

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद् रहस्य



असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तौस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥



वानप्रस्थ साधक आश्रम

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद् रहस्य

वानप्रस्थ साधक आश्रम, रोजड़ में
स्वामी मुक्तानन्द द्वारा किया गया
अध्यापन का संकलन

संकलनकर्ता
ब्रह्मचारी चन्द्रदेव आर्य

प्रकाशक
वानप्रस्थ साधक आश्रम
रोजड़, गुजरात

अध्ययन : ईशोपनिषद् रहस्य
अध्यापक : स्वामी मुक्तानन्द परिव्राजक
अध्येता : ब्रह्मचारिगण व आश्रमवासी
संकलनकर्ता : ब्रह्मचारी चन्द्रदेव आर्य
संस्करण : प्रथम, नवसंवत्सर २०७९
(०२ अप्रैल, २०२२)
लागत व्यय : ५५-०० रुपए
मुद्रक : राज ओफसेट
धोबीघाट, शनिदेव मंदिर के पास,
अहमदाबाद, फोन : ९९२५७९१९०२

-: प्रकाशक व प्राप्तिस्थान :-



तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः

वानप्रस्थ साधक आश्रम

(वैदिक ज्ञान ध्यान साधना अध्यात्म व
सिद्धान्त को समर्पित संस्थान)

आर्यवन, रोजड़, पत्रालय : सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात-३८३३०७

दूरभाष : ०९४२७०५९५५०, ०९७२३०६७१४३

E-mail : vaanaprastharojad@gmail.com

Website : www.vaanaprastharojad.org

विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
○ विषयसूची	३
○ पुरोवाक्	९
○ शुभाशंसा	१२
○ ईशोपनिषद् मूल मन्त्र	१४
○ सहनाववतु	१७
○ उपनिषद् शब्द का अर्थ	२०
○ अनुबन्ध चतुष्टय (शास्त्र के)	२१
○ उपनिषदों की रचना	२४
○ उपनिषदों की संख्या	२७
○ उपनिषदों के नाम का अर्थ	२८
○ ईश्वर द्वारा सब कुछ ढका हुआ	२९
○ जगत् की परिभाषा	२९
○ त्यागपूर्वक भोग/लोभ नहीं करना	३५
○ पुरुषार्थ के लिए आदेश	४३
○ आश्रम शब्द का अर्थ	४३
○ सब से बड़ा शत्रु और मित्र	४४
○ सौ वर्ष जीने की इच्छा कौन कर सकता है ?	४६
○ फल भोगने से कर्म नष्ट होता है, संस्कार नहीं	४८
○ सकाम कर्म-निष्काम कर्म	४९
○ क्षणभर भी मनुष्य कर्म-उपासना-ज्ञान से खाली नहीं	५२
○ अच्छे कार्य में व्यस्त व्यक्ति से बुराई हट जाती है	५३

विषय	पृष्ठ संख्या
○ साधु कौन है ? कर्म कैसे लिप्त होता है ?	५४
○ निष्काम कर्म से विद्या, आयु, सुशीलता की वृद्धि	५५
○ असुर कौन है ?	६०
○ सत्पुरुष किस को कहते हैं ?	६१
○ सामान्य मनुष्य और सत्पुरुष में भेद	६२
○ अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को दुःख देनेवाले की संज्ञा	६२
○ महात्मा और दुरात्मा के लक्षण (आत्महत्यारे)	६४
○ आत्महत्या क्यों न करें ?	६५
○ विद्या है किन्तु आचरण नहीं तो क्या सुफल मिलेगा ?	६६
○ गलत विचारों को कैसे दूर करें ?	६८
○ मांसाहार में आठ प्रकार व्यक्ति पापी होते हैं	६९
○ शरीर से तीन प्रकार पाप	६९
○ वाणी के चार पाप, मन से तीन पाप	७०
○ पाप करने वालों की क्या गति होती है ?	७१
○ जितना कर्म उतना फल या अधिक मिलता है ?	७४
○ मनुष्य संख्या कम, अन्य प्राणी इतने अधिक क्यों ?	७५
○ जीवन में तीन घण्टे की परीक्षा	७७
○ ईश्वर कभी हिलता नहीं	८१
○ ईश्वर एक है और मन से भी अधिक वेगवान् है	८२
○ मन की गति	८३
○ मन की प्रतिभा	८४
○ परमात्मा इन्द्रियगम्य नहीं है	८६
○ परमात्मा सबको अतिक्रमण कर जाता है	८८
○ स्थिर की प्राप्ति के लिए स्थिर होना आवश्यक	९०

विषय	पृष्ठ संख्या
○ जीवात्मा का अपना सामर्थ्य.....	९२
○ ईश्वर चलता नहीं है, चलाता है.....	९४
○ संसार अपने आप चल नहीं सकता.....	९५
○ क्या परमात्मा किसी से दूर और किसी के समीप है ?.....	९७
○ दूरी तीन प्रकार.....	९८
○ बाहर भितर ब्रह्म भरा है ।.....	९९
○ जामित्व दोष क्या है ?.....	१०५
○ भूत शब्द का अर्थ क्या है ?.....	१०५
○ सब को ईश्वर में और सब में ईश्वर दर्शन से लाभ.....	१०७
○ गलत काम करते समय की मानसिकता.....	१०८
○ परमात्मा की निन्दा.....	१०९
○ परमात्मा साधनों से कार्य नहीं करता.....	११२
○ आत्मवत् व्यवहार.....	११४
○ बच्चे भी सम्मान चाहते हैं.....	११६
○ ईश्वर भक्त को मोह और शोक नहीं होते.....	११६
○ अपरिवर्तनीय एकत्व.....	११८
○ स्थावर-जड़म में परिवर्तन.....	११९
○ योगी व संसारी की वृत्ति में भेद.....	१२०
○ स्वयं अपना परिचय अच्छा बता सकता है.....	१२२
○ ईश्वर के लिए वह (THAT) क्यों बोलते हैं ?.....	१२३
○ ईश्वर सर्वव्यापक बार बार क्यों बताते हैं ?.....	१२४
○ “अन्धे नहीं, देर है” कहना क्या उचित है ?.....	१२५

विषय

पृष्ठ संख्या

- ईश्वर शरीर रहित है तो छिद्र,
नस-नाडी का निषेध होता है, पुनः कथन क्यों ? १२८
- ईश्वर और जीव की पवित्रता में अन्तर है १३०
- कवि किस को कहते हैं ? १३३
- उपासना में ईश्वर को कैसे अनुभव करें ? १३४
- मनीषी कौन है ? १३५
- परमात्मा सदा राजा और हम सदा प्रजा क्यों ?
बदलता क्यों नहीं हैं ? १४०
- क्या ईश्वर की भी कोई इच्छा है ? १४२
- वैदिक/ऋषि वाक्य गलत लगें तो क्या करें ? १४४
- 'अविद्या' शब्द का नया अर्थ १४६
- अज्ञानी को कम दण्ड,
जानते हुए गलती करें तो अधिक दण्ड १५०
- परा विद्या व अपरा विद्या की परिभाषा १५५
- बिना परोपकार किए मुक्ति सम्भव है ? १५७
- Give & Take rule देन-लेन की दुनिया १५८
- अविद्या से क्या लाभ प्राप्त करते हैं ? १५९
- तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए क्या करें ? १६१
- आलम्बन/अवसर आने पर क्यों रोक नहीं पाते ? १६२
- विद्या प्राप्ति $१०+२०+३०+४० = १००\%$ क्रमशः है १६३
- समाजवाद एवं पूँजीवाद में क्या दोष है ? १६६
- राष्ट्र की उन्नति भी व्यक्तिवाद हो सकता है १६७
- कार्यजगत् या कारणजगत् की उपासना क्या है ? १६९
- दो प्रकार नित्य १७२

विषय	पृष्ठ संख्या
○ उधार लेकर घी पीने को कहनेवाले.....	१७४
○ किस स्थिति में शरीर अनित्य अनुभव होता है ?	१७५
○ बड़ा आश्चर्य क्या है ?	१७६
○ कहाँ परतन्त्र और कहाँ स्वतन्त्र रहें ?	१७८
○ यम-नियम पालन में किस की मुख्यता है ?	१८१
○ गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त होता है.....	१८३
○ अभाव से भाव एवं भाव का विनाश असम्भव.....	१८५
○ बौद्धिक स्तर पर प्रलयावस्था सम्पादन.....	१८६
○ संभूति/संगठन/समाजवाद का लाभ क्या है ?	१८९
○ थोड़े दुष्ट, बहुत शिष्टों पर भी भारी पड़ते हैं.....	१९०
○ हिरण्य को हिरण्य क्यों कहते हैं ?	१९३
○ चमकिला त्वचा से शरीर का सत्यस्वरूप ढका हुआ है	१९४
○ शरीर के प्रति आकर्षण क्यों होता है ?	१९५
○ सत्यस्वरूप आत्मा शरीर द्वारा छुपा हुआ है.....	१९६
○ Packing Material से ग्राहक आकर्षित होते हैं	१९७
○ ईश्वरीय सुख उत्कृष्ट क्यों है ?	१९८
○ “जो पाना था पा लिया” कौन कहता है ?.....	१९९
○ सन्ध्योपासना से अतिरिक्त लाभ.....	२०१
○ क्षणिक सुख, महान् दुःख को छिपा रखा है	२०४
○ वास्तविकता को जानने के लिए बाह्य आवरण हटाकर देखें.....	२०६
○ खीर केवल मीठा नहीं है	२०८
○ दीक्षा से दक्षिणा की प्राप्ति होती है.....	२१२
○ योग्यता बनने के बाद भी विषयों का संग एवं अभिमान वर्जित है	२१३

विषय	पृष्ठ संख्या
○ कृपण (कंजुस) किसको कहते हैं ?	२१५
○ धर्म का ज्ञान कौन प्राप्त कर सकता है ?	२१६
○ कामना पूर्ण होने से नई कामना आती है	२१६
○ सन्तोष सुख की तुलना में दिव्यसुख	२१७
○ पापी साधन सम्पन्न व सुखी क्यों ?	२१७
○ क्या ईश्वर को भी ऋषि कह सकते हैं ?	२१९
○ यम किसको कहते हैं ?	२१९
○ सूर्य को सूर्य क्यों कहते हैं ?	२२०
○ व्यूह और समूह में अन्तर	२२१
○ संसार होते हुए भी नष्ट हो जाता है	२२३
○ राग के कारण ध्यान नहीं लगता है	२२५
○ उत्कृष्ट रचना से रचयिता का बोध करें	२२७
○ सोचा नहीं मृत्यु हो जाए तो अधिक दुःख होता है	२३३
○ मृत शरीर को जलाना ही सर्वोत्तम विधि है	२३५
○ श्मशान वैराग्य क्या है ?	२३५
○ कैसी बुद्धि बनी रहे तो बन्धन छूट जाता है	२३६
○ निज नाम और मुख्य नाम क्या होता है ?	२३७
○ आत्मनिरीक्षण अनिवार्य है	२३९
○ ईश्वर सदा सक्रिय है	२४०
○ जीवन यात्रा अनिवार्य, मार्गचयन में विकल्प है	२४१
○ देव कौन है ?	२४१
○ विद्वान् किस को कहते हैं ?	२४२
○ योगी की तुलना आँख के साथ	२४२
○ प्रभु भक्ति के लिए कुटिलता और पाप छोड़ना आवश्यक है	२४३

पुरोवाक्

आर्ष ग्रन्थों में उपनिषदों का महत्त्व बहुत अधिक है। वैदिक वाङ्मय में ११ उपनिषद् प्रमुख हैं, उन में ईशोपनिषद् अन्यतम है।

जैसे परमात्मा ने अत्यन्त सहज स्वभाव से शनैः शनैः फुरसत से विचित्र सृष्टि का निर्माण किया जो शान्त एकाग्रचित्त द्रष्टा के हृदय में पुस्तक की भाँति स्पष्ट लिपिबद्ध हो जाता है। वैसे ही ऋषियों ने सहज स्वभाव से क्रियात्मक रूप अनुभूत विषय उपदेश द्वारा उपनिषद् के स्वरूप में प्रकट किया है।

कथा, नाटक मनुष्य के मन में गहरा प्रभाव डालते हैं। अतः अध्यात्म विद्या का सजीव चित्रण के लिए उपनिषदों में अनेक कथानक उपलब्ध हैं जिससे श्रोता/अध्येता क्रियात्मक रूप से इस विद्या का आत्मसात् कर सकें। उपनिषदों में मनुष्यों की बुभुक्षा-पिपासा-मुमुक्षा (दुःख से छूटने की इच्छा) के उपशम के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा-परमात्मा आदि गम्भीर विषयों की सरल सुगम हृदयग्राह्य अभिव्यक्ति है।

आज अनेकानेक उपनिषद् उपलब्ध हैं किन्तु अपनी महत्ता व विशेषता के कारण ईशोपनिषद् सर्व प्रथम माना जाता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा हम प्रातः काल उठने से लेकर रात्रि पर्यन्त समस्त व्यवहार शास्त्र अनुरूप कर सकते हैं, अन्य शब्दों में कहें तो हम ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। संसार में कोई व्यक्ति केवल भौतिक विद्या में अपने आपको न्यौछावर कर देता है और कोई केवल आध्यात्मिक विद्या में। एकाङ्गी रूप में चलने वाला व्यक्ति अपूर्ण होता है। इस बात को गम्भीरता से ईशोपनिषद् प्रतिपादित करता है :-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

सम्भूतिञ्च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

इस प्रकार भौतिक विद्या और आध्यात्मिक विद्या दोनों विद्याओं का समन्वय करने वाला यह ईशोपनिषद् है। इन दोनों विद्याओं के बिना हम अपने लक्ष्य को पूर्ण नहीं कर सकते हैं।

जीवन की गम्भीरता, पूर्णता, लक्ष्य की प्राप्ति, लक्ष्य से वञ्चित होने का कारण आदि प्रत्येक पहलु को लेकर यह उपनिषद् केवल १८ मन्त्रों में अध्यात्म का जीवन्त प्रतिपादन किया।

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि स्वाध्यायशील जनता के लिए अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ ईशोपनिषद् की व्याख्या प्रस्तुत हो रही है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने अपनी अपनी योग्यता, स्व-स्व दृष्टिकोण, स्वयं के अनुभव के आधार पर उपनिषदों की व्याख्या की है, परन्तु यह उपनिषद् की व्याख्या जो पुस्तक के रूप में आपके हाथ में विद्यमान है यह एक साधारण बुद्धि रखने वाले व्यक्ति से लेकर शास्त्रज्ञ विद्यार्थी, अध्यापक, वैयाकरण, दार्शनिक सभी के लिए पठनीय उपयोगी ग्रन्थ सिद्ध होगा ऐसी आशा करता हूँ। वानप्रस्थ साधक आश्रम में स्वामी मुक्तानन्द जी ने ब्रह्मचारी, आश्रमवासी, अतिथियों को ११ उपनिषद् पढ़ाए जिसका सीधा प्रसारण हुआ एवं चैनल के माध्यम से अनेक श्रोताओं ने श्रवण किया। एक श्रोता (श्रीमती त्रिवेणी जी पढ़िहार, निवास खरियार रोड़, ओडिशा) ने इस को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की एवं समस्त व्ययभार वहन किया। स्वामी मुक्तानन्द जी एवं गुरुकुल के अन्तेवासी अनेक ब्रह्मचारियों ने समय लगाकर लेखन, संशोधन, संकलन में बहुत परिश्रम किया है। ये सब भूरिशः धन्यवाद के पात्र हैं।

व्याख्याकार अध्यापक स्वामी मुक्तानन्द जी सुपठित विद्वान् हैं। आपने शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि अंग एवं उपांग दर्शनशास्त्र तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों का गुरुमुख से अध्ययन किया, पश्चात् गहन चिन्तन, मनन, स्वाध्याय व स्व अनुभव सहित अनेक बार पढ़ाया। जहाँ आप वेद, ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्थावान् हैं वहाँ ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषिओं के प्रति, उनके ग्रन्थ और सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण निष्ठावान् हैं। महर्षि दयानन्द

के प्रति अनन्य श्रद्धा व उनके आदर्शों व विचारों के प्रति पूर्ण समर्पित हैं। साधारण अध्यापक से पढ़ना भिन्न बात है। सौभाग्य की बात है कि शास्त्रों में कृतभूरिपरिश्रम अनुचान पुरुष से यह अध्यापन ग्रन्थ प्राप्त हो रहा है।

मैं स्वामी मुक्तानन्द जी के उत्तम स्वास्थ्य के लिए मंगल कामना करता हूँ। आगे भी आप इस प्रकार ग्रन्थों का अध्यापन एवं पुस्तक प्रणयन करते जाएँ। इन्हीं आशाओं के साथ साधुवाद देता हूँ।

सभी पाठक गण क्रमशः एक दिन में एक मन्त्र अथवा एक कक्षा का अध्ययन गम्भीरता से करें एवं अधिक से अधिक लाभ उठाएँ। बहुत बहुत शुभकामनाएँ।

दिनांक : ०९-०३-२०२२

स्वामी विष्वङ्

संरक्षक

आर्ष गुरुकुल

एवं

वानप्रस्थ साधक आश्रम

रोजड़, गुजरात

शुभाशंसा

अध्यात्म प्रेमियों व जिज्ञासुओं में उपनिषदों के प्रति आदर-सम्मान बहुत रहा है। धर्म में श्रद्धा-आस्था रखने वाले व्यक्ति आगे बढ़ने पर बाह्य शुभ कर्मों के साथ आन्तरिक पवित्रता-शुचिता-शान्ति की ओर अधिक केन्द्रित होने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों को उपनिषदों के अध्ययन से बहुत सहायता मिलती है। ऐसे सांसारिक व्यक्ति भी उपनिषदों की ओर झुकते हैं जो संसार के दुःख-वियोग-विश्वासघात में विचारशील रहकर विवेक के उभरने पर वैराग्य की दिशा में दुःख निवृत्ति देखने लगते हैं। उपनिषदों का स्वाध्याय व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाने लगता है। वह आत्मा-परमात्मा के चिंतन में शान्ति अनुभव करता है।

उपनिषदों का स्वाध्याय अध्यात्म प्रेमियों में व्यापक प्रचलित होते हुए अनेक भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्धक पोषक भी बना। ऐसे में एक नये अध्यात्म जिज्ञासु के लिए संशय व भ्रम की स्थिति भी बनती रही, किसकी व्याख्या उचित-अनुचित यह प्रश्न उभरता ही रहा। उपनिषद् चूंकि वैदिक परंपरा के ग्रन्थ हैं, अतः उनकी वेदानुकूल व्याख्या ही उचित व्याख्या मानी जा सकती है। महर्षि दयानन्द जी ने हमें वेदानुसार उचित दार्शनिक सैद्धान्तिक दृष्टि प्रदान करी। इस दृष्टि से उपनिषद् जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों को समझना हमें सत्य तक पहुँचा पाता है। महर्षि दयानन्द जी की परंपरा में चलने वाले गुरुकुलों-आश्रमों में उपनिषदों का अध्ययन-अध्यापन चिंतन-मनन जीवन्त रूप में उपलब्ध होता है। ये गुरुकुल-आश्रम अध्यात्म के गंभीर व विस्तृत क्षेत्रों में जन-जन को मार्गदर्शन प्रदान करते रहते हैं।

इसी शृंखला में वानप्रस्थ साधक आश्रम, रोजड़ में साधक-साधिकाओं व गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को स्वामी मुक्तानन्द जी परिव्राजक ने ११ उपनिषदों

का ज्ञान विस्तार-विवेचना-विमर्श के साथ प्रदान किया। ईशोपनिषद् उनमें से प्रथम है। अध्यात्म प्रेमियों के निवेदन को देखते हुए स्वामी जी ने इन अध्यापन कक्षाओं को लिखित रूप देते हुए इसे पुस्तक रूप में उपलब्ध कराया है। स्वामी जी द्वारा पढ़ाये गये सभी ११ उपनिषद् चलचित्र के रूप में वानप्रस्थ साधक आश्रम के यू-ट्यूब चैनल पर तो उपलब्ध हैं ही। जिज्ञासु उनका लाभ स्वामी जी की वाणी व चित्र के साथ उठा ही सकते हैं।

वानप्रस्थ साधक आश्रम, रोजड़ द्वारा अध्यात्मप्रेमियों के लिए विस्तृत साहित्य उपलब्ध कराया गया है। आश्रम के संस्थापक दिवंगत आचार्य ज्ञानेश्वरजी आर्य ने विशेष पुरुषार्थ से यह सब क्रम आरम्भ किया, चलाया व बढ़ाया। उनके विचार व संकल्प के अनुरूप इस कार्य को आगे बढ़ाने में वानप्रस्थ साधक आश्रम प्रयत्नशील है। ईशोपनिषद् की इस व्याख्या को प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है। आशा है स्वामी मुक्तानन्द जी का यह परिश्रम-योगदान आपको उपयोगी लगेगा। प्रत्येक आध्यात्मिक जिज्ञासु-पाठक के प्रति हार्दिक शुभकामनायें कि उनका आन्तरिक आध्यात्मिक उत्थान संतोषजनक हो सके, वे अध्यात्म के शुद्ध स्वरूप को अपनाते हुए, अपना जीवन अधिकाधिक सार्थक कर सकें।

दिनांक : १०-०३-२०२२

विनीत

मुनि सत्यजित्

अधिष्ठाता एवं प्रबंधक न्यासी

वानप्रस्थ साधक आश्रम,

आर्यवन, रोजड़ (गुजरात)

मन्त्र

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्—

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याऽऽरताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओ३म् क्रतोस्मर कृतं स्मर क्रतोस्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

॥ १८ ॥

★ ★ ★

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्

ओ३म् ।

सहनाववतु ।

सह नौ भुनक्तु ।

सहवीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतमस्तु ।

मा विद्विषावहै ।

ओ३म् । शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ओ३म् — हे परमेश्वर ब्रह्मन् ! आप हम दोनों शिष्य और आचार्य की समान रूप से रक्षा कीजिए और हम दोनों का साथ—साथ समान रूप से पालन कीजिए । हम गुरु—शिष्य एक दूसरे के बल, विद्यादि के सामर्थ्य को साथ—साथ वृद्धि करें । हमारा अध्ययन दीप्तिमान् हो अर्थात् ज्ञान कराने में समर्थ हो, विद्या की वृद्धि और परम्परा आगे चलती रहे । हम गुरु शिष्य प्रमाद से भी एक दूसरे को कभी द्वेष न करें । हे सर्वरक्षक प्रभो ! (१) आध्यात्मिक जो स्वयं की अज्ञानता के कारण (२) आधिभौतिक जो भूत अर्थात् अन्य प्राणियों के कारण और (३) आधिदैविक जो दैवी शक्तियों के कारण से उत्पन्न होने वाले दुःख, बाधा—विघ्नों से हमारी रक्षा कीजिए, त्रिविध शान्ति प्रदान कीजिए ।

✱ ✱ ✱



तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः

पहली कक्षा

उपनिषद् परिचय/पृष्ठभूमि

ओ३म् सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यह उपनिषद् की प्रथम कक्षा है, उपनिषद् अध्यात्मिक ग्रन्थ है। उपनिषद् आध्यात्मिक साधकों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। संस्कृत साहित्य में जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें आध्यात्मिक उन्नति के लिए इनकी उपयोगिता सबसे अधिक है। जो लोग अध्यात्म में रुचि रखते हैं, अध्यात्म मार्ग में चलना चाहते हैं, अध्यात्म मार्ग में साधना करना चाहते हैं, उनके लिए उपनिषदों की आवश्यकता अत्यधिक है। न्याय दर्शन में एक प्रश्न उठाया कि आप सोलह पदार्थों को गिनकर बताते हैं इन सोलह पदार्थों की क्या आवश्यकता है? एक प्रमाण है, एक प्रमेय है। इन दो से ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। बाकी इन सबकी आवश्यकता क्या है? तो वहाँ पर उन्होंने एक वाक्य बोला — ‘तेषां पृथक् वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रम् — इयं स्यात्’ यथा उपनिषदः। उन्होंने कहा कि हम केवल प्रमाण, प्रमेय की चर्चा करेंगे, तो न्याय दर्शन न्याय दर्शन न होकर एक आध्यात्मिक शास्त्र हो जायेगा और आध्यात्मिक शास्त्र का उन्होंने उदाहरण दिया जैसे — उपनिषद्।

उपनिषद् को आध्यात्मिक शास्त्र के रूप में सभी मानते हैं, ये केवल हमारी भारतीय संस्कृति में रचा, बसा नहीं है अपितु पाश्चात्य जितने भी

दार्शनिक हुए हैं, वे सब उपनिषद् विद्या का भी अध्ययन करते हैं और इस उपनिषद् का प्रभाव केवल हमारे वैदिक धर्मावलम्बियों के ऊपर ही नहीं है; जो वैदिक धर्म को नहीं मानते हैं उनके ऊपर भी इसका प्रभाव है। उपनिषद् आज अनेक भाषाओं में प्रकाशित हैं। उन सभी भाषाओं में इसका अनुवाद पढ़के अध्यात्म प्रेमी अपनी अध्यात्म पिपासा को शान्त करते हैं।

‘उपनिषद्’ शब्द का अर्थ क्या है :-

यह शब्द तीन छोटे-छोटे शब्दों से मिलकर बना है। पहला है ‘उप’ दूसरा है ‘नि’ और तीसरा है ‘षद्’। ‘उप’ का अर्थ होता है ‘समीप’। हम किसके समीप जाएं ? तो ये कहना चाहते हैं, ब्रह्म के समीप, यह उपनिषद् शास्त्र हमको ब्रह्म के समीप पहुँचाने वाला शास्त्र है। इसलिए इसको उपनिषद् कहते हैं। ‘नि’ का अर्थ होता है ‘निश्चितरूप से’ इस ग्रन्थ को यदि हम पढ़ते हैं और पढ़कर हम उसी के अनुसार मनन करते हैं, निश्चय करते हैं फिर वैसे व्यवहार में लाते हैं, तो यह शास्त्र निश्चित ही हमको ब्रह्म तक पहुँचाने वाला शास्त्र है। और ‘षद्’ का अर्थ ‘षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु’ गति करानेवाला है। परमात्मा की ओर हमारी गति होगी, और गति के संस्कृत में तीन अर्थ होते हैं — ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इसलिए परमात्मा की समीपता को निश्चित रूप से प्राप्त कराने वाले शास्त्र को उपनिषद् कहते हैं। जो यहाँ ‘षद्’ धातु है। जिसको आप ‘सदनम्’ बैठना कहते हैं। उसी धातु से यह बना है। इस शास्त्र में ऐसी रहस्यमयी विद्या है, जो हमको परमात्मा के समीप बिठाने में समर्थ करती है।

‘षद्लृ’ धातु का दूसरा अर्थ है ‘विशरण’। विशरण का अर्थ होता है — हिंसा, मारना, नष्ट करना। हमारे अन्दर जो अज्ञान है, कुसंस्कार हैं उन सबका विशरण करने वाला, उन सबको दूर करने वाला, उन सबको हटाने वाला, उन सबको नष्ट करने वाला यह उपनिषद् शास्त्र है। और एक शब्द है इसी धातु में अवसादन अर्थात् ‘अवसाद’। सुना होगा यह बड़े अवसाद में चला गया। लोक में अवसाद एक रोग भी माना जाता है, जिसको

डिप्रेशन कहते हैं। नीचे बैठजाना अर्थात् सक्रियता हट जाये और व्यक्ति निष्क्रिय हो जाये, सबसे निराश हो जाये, लोक में हम इसको अवसाद कहते हैं। लेकिन ये जो उपनिषद् शास्त्र हैं वे अवसाद अर्थात् आपको बाहर की सांसारिक प्रवृत्ति, सकाम प्रवृत्ति से हटाकर, आपको निष्कामता की ओर ले जाने वाले शास्त्र हैं। इसलिए इसको कहते हैं अवसाद कर देता है। हमारे अन्दर जो सकामता रहती है वह सकामता/उथल-पुथल/बेचैनी/अस्थिरता दूर होती है। इसलिए यहाँ अवसाद शब्द कहा है।

जब कोई भी ग्रन्थ पाठक गण पढ़ते हैं उसमें उनके लिए विशेष करके, चार बातें मुख्य होती हैं। जिसको अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। किसी भी शास्त्र में ये चार बातें जुड़ी हुई रहती हैं।

‘विषयश्चाधिकारी च ग्रन्थस्य च प्रयोजनम् ।

सम्बन्धश्च चतुर्थोऽस्ति—इति—अनुबन्ध चतुष्टयम् ॥’

अनुबन्ध चतुष्टय में चार अनुबन्ध हैं, चार बातें हैं अथवा चार कारण हैं — (१) विषय, (२) अधिकारी, (३) प्रयोजन, (४) सम्बन्ध, ये चार अनुबन्ध चतुष्टय हैं। सबसे पहले बताया ‘विषय’ कोई भी शास्त्र पढ़ते हैं तो उस शास्त्र का विषय क्या है ? तो यह जो उपनिषद् शास्त्र है, इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ‘ब्रह्म’। ये ब्रह्म को ही प्रतिपादित करेंगे। ब्रह्म के बारे में ही वर्णन करेंगे, कहीं आपको सृष्टि—उत्पत्ति के बारे में भी वर्णन मिलेगा। लेकिन ये सृष्टि उत्पत्ति बताते हुये भी ईश्वर की ही व्याख्या करेंगे, ब्रह्म की ही व्याख्या करेंगे, ब्रह्म को बताने के लिए, ब्रह्म की शक्ति, ब्रह्म का सामर्थ्य और ब्रह्म के पास कितना ज्ञान है, उस बात को बताने के लिए, ये सृष्टि रचना आदि को बताते हैं। सृष्टि उत्पत्ति, सृष्टि पालन, सृष्टि का संहार, इन सबको बताते हुये, ये किसको बताना चाहेंगे ? ब्रह्म को बताना चाहेंगे। कहीं आत्मा के बारे में वर्णन करेंगे। आत्मा में क्या शक्ति है ? क्या सामर्थ्य है ? उन सबको बताते हुए भी उनका मुख्य तात्पर्य वहाँ ब्रह्म को प्रतिपादित करना है। ब्रह्म प्राप्ति से ही आत्मा का पूर्ण कल्याण होता है। इसी बात को वे द्योतित करके बतायेंगे। इसलिए

इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हो गया 'ब्रह्म'। आत्म विद्या जिसको ब्रह्म विद्या, परा विद्या कहते हैं, वह इस उपनिषद् ग्रन्थ का मुख्य विषय है। सभी उपनिषदों में किसी एक-दो में नहीं, जितने भी हम पढ़ेंगे, सभी उपनिषदों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है।

अनुबन्ध चतुष्टय में दूसरा अनुबन्ध है 'अधिकारी'। अधिकारी कौन है? किसी भी कार्य को करने के लिए कोई न कोई अधिकारी है। कल्पना करिए यहाँ जितने भी लोग बैठे हैं, कोई भी हिन्दी नहीं जानता और मैं हिन्दी में बोल रहा हूँ तो वे सब श्रोता अधिकारी बन नहीं सकते। इसलिए किसी भी शास्त्र को पढ़ने के लिए जो अधिकारी होता है, वह सबसे मुख्य होता है, उसके अन्दर उस शास्त्र को जानने के लिए जिज्ञासा हो, जो जिज्ञासु है, वह अधिकारी होता है। जिसके अन्दर जिज्ञासा नहीं है, जानना नहीं चाहता है वह किसी भी शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी नहीं होता है। जिसको लगता है कि उपनिषद् शास्त्र को पढ़ने से मेरा कुछ कल्याण होगा और कल्याण करने की इच्छा से युक्त है उस व्यक्ति को अधिकारी माना जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए भी अधिकारी की चर्चा होती है। आपने सत्यार्थ प्रकाश का नौवाँ समुल्लास पढ़ा होगा। उसमें महर्षि दयानन्द जी ने इन्हीं उपनिषदों के आधार पर वर्णन किया है। विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। ये चार बातें जिसके अन्दर हैं वह अधिकारी बनता है। अर्थात् मुक्ति के लिए प्रयत्न कर सकता है। मुक्ति के लिए आगे बढ़ने का जो प्रयत्न करता है उसको करने के लिए चार बातें हैं। ऐसे ही एक और उदाहरण जैसे यहाँ आश्रम में पढ़ते हैं तो कुछ साधारण नियम होते हैं। उन नियमों का हम पालन करते हैं। उपासना हो गई, यज्ञ हो गया और भी जो आश्रम के नियम हैं उन नियमों का हम किस लिए पालन करते हैं ताकि हमारी विद्या में वृद्धि हो ऐसे नियमों का व्रतों का पालन करते हुए जो-जो व्यक्ति इस ब्रह्म विद्या को जानने के इच्छुक हैं, उनको शास्त्र में अधिकारी कहा है, वे अधिकारी हैं। ब्रह्म विद्या सबसे सूक्ष्म विद्या है। सभी ऋषियों ने स्वीकार किया है कि ये ब्रह्म विद्या

सबसे सूक्ष्म विद्या है। इससे अधिक सूक्ष्म विद्या और कुछ नहीं है, तो इस सूक्ष्म विद्या को प्राप्त करने के लिए कैसी-कैसी योग्यता होनी चाहिए? वह सब उपनिषद् में हम पढ़ेंगे। शिष्य की योग्यता कितनी होनी चाहिए? गुरु की योग्यता कैसी होनी चाहिए? सच्चा गुरु कौन है? ये सब बातें इन उपनिषदों में आयेंगी। परन्तु वे तो उच्च कोटि की हैं। लेकिन सामान्य रूप से यदि हम इस विद्या को जानने के इच्छुक हैं, जिज्ञासु हैं, तो हम पढ़ने के अधिकारी हैं।

तीसरी बात कहते हैं — ‘प्रयोजनम्’ कोई भी बात हो, उसका प्रयोजन होता है। संस्कृत में एक बात बहुत प्रचलित है। ‘अप्रयोजने मन्दोऽपि न प्रवर्तते’ — बिना प्रयोजन के, बिना लाभ के कोई मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति भी प्रवृत्त नहीं होता है। कोई भी किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है, तो कोई न कोई उसका प्रयोजन होगा, कोई न कोई लक्ष्य होगा, कुछ न कुछ चाहता है, तब तो उस कार्य को करता है। बिना प्रयोजन के कोई भी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है, इसलिए इस शास्त्र को पढ़ने का भी हमारा प्रयोजन है। उपनिषद् शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन होता है मोक्ष। ये मोक्ष के बारे में बतायेंगे और उसका मुख्य उपाय बताएं। जैसे तीन ऐषणाओं को छोड़ देना। यह जो उपनिषद् शास्त्र है, मोक्ष तक पहुँचाने का शास्त्र है। मोक्ष इसका प्रयोजन है, तीन ऐषणाओं को दूर करना। कैसे दूर करना है? क्यों दूर करना है? ये सब इस शास्त्र का प्रयोजन है।

चौथी बात बताई ‘सम्बन्ध’। ‘सम्बन्ध’ का अर्थ हम सामान्य रूप से जानते हैं। हम सब में परस्पर सम्बन्ध होता है। लेकिन यहाँ जो पठन-पाठन के विषय में जो सम्बन्ध की चर्चा होती है, वह सम्बन्ध थोड़ा इस सम्बन्ध से अलग है। सम्बन्ध का अर्थ वहाँ होता है, प्रतिपाद्य और प्रतिपादक। जैसे आप लोगों ने योगदर्शन में पढ़ा है। वाच्य-वाचक सम्बन्ध। वाच्य कौन है? ईश्वर और वाचक क्या है? ओ३म्। इसलिए ओ३म् और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध है। ऐसे सब जगह आप सम्बन्ध

को देख सकते हैं। वाच्य—वाचक एक सम्बन्ध हो गया और बहुत प्रकार के सम्बन्ध हैं। कहीं व्याप्ति पूर्वक सम्बन्ध होता है तो अनुमान प्रमाण में वह आ जाता है। जो पठन—पाठन हम करते हैं, उसमें सम्बन्ध क्या होता है ? उस विषय में कहते हैं — एक प्रतिपाद्य होता है और दूसरा उस विषय का प्रतिपादक। जैसे ईश्वर के बारे में इसमें बतायेंगे। ईश्वर हो गया विषय और ईश्वर को बताने के लिए, जो ये श्लोक बतायेंगे, बहुत सारे मन्त्र बताएंगे, बहुत सारी कहानियाँ बताएंगे, उनके द्वारा ईश्वर को प्रतिपादित करेंगे। ये सब जो बातें हैं, इनको कहते हैं प्रतिपादक = प्रतिपादन करने वाला, जो प्रतिपादन करता है, उसको कहते हैं प्रतिपादक। जैसे बताने वाले को वाचक, पकाने वाले को पाचक, पढ़ाने वाले को पाठक, ऐसे ही बताने वाले को कहते हैं, प्रतिपादक। वह जिस वस्तु को बताता है उसको कहते हैं प्रतिपाद्य। बताने योग्य, जनाने योग्य, उसको कहते हैं प्रतिपाद्य। प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में सम्बन्ध होता है। ‘सम्बन्धश्च चतुर्थोऽस्ति—इति—अनुबन्धचतुष्टयम्।’ ये अनुबन्ध चतुष्टय हैं। इन चार बातों का ध्यान रखकर, हम पठन—पाठन करते हैं।

अगली बात है उपनिषदों की रचना किसने की है ? जैसे आपने योगदर्शन पढ़ा है आपको पता है महर्षि पतञ्जलि जी ने योग दर्शन की रचना की है, सांख्यदर्शन महर्षि कपिल ने, इसी प्रकार सभी दर्शनों के प्रणेता ऋषियों के नाम हमें पता है। लेकिन उपनिषद् में थोड़ी भिन्न शैली है। दर्शनशास्त्र किसी भी बात को बताते हैं तो उसको तर्क, प्रमाण, हेतुपूर्वक प्रतिपादित करके सिद्ध करते हैं। परन्तु उपनिषद् में ऐसी शैली नहीं है। उपनिषद् में गुरु आध्यात्मिक पराकाष्ठा को प्राप्त किए हुए होते हैं। वे अपने शिष्यों को उपदेश करते हैं, बताते हैं, यह गुरु का शिष्य को उपदेश है। गुरु शिष्य का जो संवाद है वही उपनिषद् के रूप में प्रचलित है। अब इसके साथ आप और एक बात समझिए। सृष्टि के प्रारम्भ में जब मनुष्य की उत्पत्ति हुई थी, तब परमपिता परमात्मा ने सृष्टि को बनाने के बाद सृष्टि में हमें कैसे जीवन व्यतीत करना है, उन्होंने निश्चित किया।

आज आप बाजार से एक मोबाईल खरीदते हैं अथवा एक छोटा-सा प्रेशर-कुकर खरीदते हैं तो भी आपको एक मैन्युअल मिल जाता है कि इसका प्रयोग कैसे करें ? कैसा व्यवहार इसके साथ करें और कैसा व्यवहार न करें ? Does and Don'ts — ऐसे करना है, ऐसे नहीं करना है । क्योंकि जो बनाने वाला है वह तो जानता है कि इसको कैसे चलाएँ तो यह सुख देगा, कैसे चलाएँ तो यह दुःख देगा । इसलिए खरीदने वाले को बताना, उसका कर्तव्य हो जाता है । ऐसे ही परमपिता परमात्मा इस विशाल ब्रह्माण्ड को, सृष्टि को, ऐसे ही दे दे और कुछ बताएं नहीं कैसे प्रयोग करना है तो क्या लाभ होगा ? हम उसका प्रयोग कर ही नहीं पायेंगे । आप कोई भी चीज़ बाज़ार से खरीदते हैं, विशेषकर आज कल जितने भी इलैक्ट्रॉनिक इन्स्ट्रूमेन्ट खरीदते हैं, चाहे आप कम्प्यूटर खरीदते हैं, चाहे टी.वी. खरीदते हैं, मोबाईल खरीदते हैं, उनको चलाना आपने किसी बड़े व्यक्ति से सीखा है अथवा मैन्युअल को पढ़कर सीखा है । यदि आपको कोई भी कुछ भी न बताए तो आप चला नहीं सकते, न मोबाईल चला सकते, न कम्प्यूटर चला सकते हैं । तो ऐसे ही परमपिता परमात्मा ने इस सृष्टि को बनाकर, उसको कैसे चलाना है वह बताया । किसको बताया ? सबसे पहले चार ऋषियों के हृदय में वेद का ज्ञान दिया कि इसको कैसे चलाना है, क्या करना है, क्या नहीं करना है ? उस संविधान को हम वेद कहते हैं । वेद में यही सब लिखा है । क्या करना है, क्या नहीं करना है ? **Does and Don'ts** ? परमपिता ने सीधा-सीधा उन ऋषियों को यह ज्ञान दिया । ऋषियों ने वह ज्ञान आगे दूसरों को दिया, और दूसरों ने आगे दूसरों को दिया । तो सबसे अच्छे आदमी तो वे हैं जो सीधे-सीधे समाधि में परमात्मा से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे सबसे उच्चकोटि के ऋषि थे । सृष्टि के आरम्भ में उन्होंने सीधा परमात्मा से ज्ञान प्राप्त किया । दूसरे स्तर के वे लोग होते हैं, जो सीधा परमात्मा से ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते हैं । लेकिन गुरु से पढ़ने के बाद वे भी उसी स्थिति तक पहुँच जाते हैं । वे दूसरे स्तर के ऋषि हुए । ये बातें निरुक्त में बताई गई हैं । तीसरे स्तर

के लोगों में हम सब आते हैं। न हम सीधा ईश्वर से ज्ञान प्राप्त कर पाए और न हम गुरुजनों से सुनने के बाद सीधा अपने जीवन में उतार पाए। हमने बचपन से ही कितनी बार सुना है सत्य बोलना चाहिए, असत्य नहीं बोलना चाहिए! लेकिन आजतक हमारे जीवन में नहीं आया। ये तीसरे स्तर के लोग होते हैं। प्रथम स्तर के सीधे पवित्र अन्तःकरण वाले ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे स्तर के जो सीधा तो प्राप्त नहीं कर पाते लेकिन गुरु से उपदेश प्राप्त करने के बाद उसको आचरण में ले आते हैं और तीसरे स्तर के होते हैं जो उपदेश प्राप्त करने के बाद भी आचरण में नहीं ला पाते। ऐसे व्यक्ति सीधा-सीधा वेद को नहीं समझ सकते हैं। क्योंकि इनके अन्तःकरण में मलिनता है, अपवित्रता है। इसलिए हम जानते हुये भी कि सच बोलना चाहिए, गुरु ने उपदेश दिया है, फिर भी हम आचरण में नहीं ला पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ऋषियों ने फिर आगे-आगे (वेद को तो ये सीधा-सीधा समझ नहीं सकते हैं। क्योंकि अन्तःकरण पवित्र नहीं है, अतः) वेद की एक-एक विद्या को लेकर व्याख्या की है। जितने भी हमारे वेदाङ्ग हैं, उपाङ्ग हैं सब इसी के लिए रचना की गई है ताकि हम इन ग्रन्थों को पढ़कर वेद तक पहुँच सकें। ऋषियों ने इसलिए इन शास्त्रों को बनाया।

वेद का जो सबसे पहले व्याख्यान हुआ उसको 'ब्राह्मण ग्रन्थ' कहते हैं। जैसे आपने योगदर्शन पढ़ा, मूल सूत्र हो गये महर्षि पतञ्जलि जी के और महर्षि व्यास जी ने उसकी व्याख्या की है। ऐसे ही वेद परमात्मा की वाणी है, परमात्मा का उपदेश है, परमात्मा का सन्देश है और उसका व्याख्यान क्या हो गया? ब्राह्मण ग्रन्थ। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद मन्त्रों का व्याख्यान है। वेद में सभी विद्यायें हैं। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों का वर्णन है और चारों वर्णों का क्या क्या कर्म है, उनको क्या करना है, क्या नहीं करना है? उसका भी वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थ में है। ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी सब के लिए वेद में विधान है। तो उन्हीं का व्याख्यान सब ब्राह्मण ग्रन्थों में है। वेद मन्त्रों का हम

यज्ञ में भी प्रयोग करते हैं। वेद की जो कर्मकाण्ड परक व्याख्या है वह ब्राह्मण ग्रन्थ में विद्यमान है और वेद में आध्यात्मिक विद्या भी है। उसकी जो व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में है उसको 'उपनिषद्' कहते हैं। सभी उपनिषद् किसी न किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का, किसी न किसी आरण्यक का भाग हैं, ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। जैसे आज बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'भगवद् गीता'। गीता कोई पृथक् शास्त्र नहीं है, महाभारत का ही एक भाग है गीता। विदुरनीति पृथक् ग्रन्थ नहीं है। ऐसे ही पृथक् रूप से उपनिषद् बनाये गये थे, ऐसा नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ का जो आध्यात्मिक भाग है, वह उपनिषद् के रूप में प्रचलित है। कर्मकाण्ड अर्थात् जो बड़े-बड़े याग होते हैं जैसे सोमयागादि सब ब्राह्मण ग्रन्थ के व्याख्यान के आधार पर होते हैं और जो उनका आध्यात्मिक भाग है वह उपनिषद् के रूप में प्रचलित है। प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वेद, ब्राह्मण से सम्बन्धित है। सभी उपनिषदों में अध्यात्म विद्या ही मिलेगी। इनमें कर्मकाण्ड की बातें नहीं हैं।

उपनिषदों की संख्या :-

आज संसार में उपनिषद् की महत्ता अधिक हो गई है। प्राचीन काल में तो ब्राह्मण ग्रन्थों में ही उपनिषद् प्राप्त होते थे। अर्वाचीन काल में आगे-आगे फिर उपनिषदों की रचना अन्यो ने की है तो बाजार में जो उपनिषद् उपलब्ध हैं वे एक सौ आठ भी मिलते हैं और एक सौ आठ से अधिक भी उपनिषद् उपलब्ध होते हैं। लेकिन हम यहाँ ग्यारह उपनिषदों का पाठ करेंगे। महर्षि दयानन्द जी ने आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने का जहाँ विधान किया है, वहाँ पठन-पाठन विषय में दस उपनिषदों का वर्णन किया है। हम यहाँ पर ग्यारह उपनिषदों का क्रम से अध्ययन करेंगे। बाकी उपनिषद् का अध्ययन हम नहीं करेंगे और ये ग्यारह उपनिषद् अधिक प्रचलित हैं। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी इन ग्यारह उपनिषदों के ऊपर भाष्य किया है और जितने भी विद्वान् प्रायः करके व्याख्या करते हैं, इन ग्यारह उपनिषदों के ऊपर व्याख्या करते हैं। हम यहाँ पर डॉ. सत्यव्रत

सिद्धान्तालंकार के द्वारा प्रणीत जो 'एकादशोपनिषद्' व्याख्या है उसका अध्ययन करेंगे। इन एकादशोपनिषद् में सबसे पहला उपनिषद् है ईशोपनिषद्। 'ईश' शब्द का अर्थ होता है ऐश्वर्य का स्वामी/मालिक। 'ईश' का अर्थ होता है सारा ऐश्वर्य का भण्डार जिसमें है। आपने योगदर्शन में भी पढ़ा है कि जहाँ पर ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है — 'साम्य-अतिशय-विनिर्मुक्त' वह है ईश्वर अर्थात् ईश्वर किसको कहते हैं ? ऐश्वर्य बढ़ते-बढ़ते जिस में सबसे अधिक है वह है ईश्वर। सबसे पहला उपनिषद् है ईशोपनिषद्। जिसका पहला शब्द ही ईशा है, इसलिए इसको ईशोपनिषद् कहते हैं। ईशोपनिषद् बहुत महत्वपूर्ण है। अन्य उपनिषद् तो हमको ब्राह्मण ग्रन्थ से मिलते हैं। परन्तु ईशोपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता है। ईशोपनिषद् में कुल अठारह मन्त्र हैं। उन अठारह में से जो चौदह मन्त्र हैं वे यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के मन्त्रों से बिलकुल ज्यों का त्यों मेल रखते हैं। केवल एक मन्त्र में आधा भाग अलग है। दो मन्त्रों में कुछ पदभेद है और एक नया मन्त्र है। ऐसे अठारह मन्त्र हैं। ऐश्वर्य जिसमें भरपूर है। उस ईश्वर के बारे में ईशोपनिषद् में वर्णन है।

ईशोपनिषद् के बाद दूसरा उपनिषद् है 'केनोपनिषद्'। संसार को हम जब देखते हैं। बहुत विचित्र रचना है और अपने शरीर को भी देखते हैं। अति विचित्र रचना है। अब इन रचनाओं को देखने के बाद व्यक्ति के मन में स्वभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि यह संसार किसके द्वारा चल रहा है ? हमारा शरीर और शरीर के अन्दर जो क्रियाएँ हो रही हैं, ये किसके द्वारा संचालित हैं, ये प्रश्न हमारे मन में उठते हैं। संस्कृत में 'केन' का अर्थ होता है — किसके द्वारा। जब हम ईश्वर के बारे जानते हैं, ईश्वर का ऐश्वर्य समझते हैं, तब फिर प्रश्न उठता है कि यह संसार, यह शरीर, किसके द्वारा संचालित है ? किसके द्वारा परिचालित है ? यह केनोपनिषद् का विषय है।

तीसरा उपनिषद् है 'कठोपनिषद्'। जिस ईश्वर के बारे में हमने जाना और जिसके द्वारा यह संसार, हमारा शरीर संचालित है। वह कैसे प्राप्त

होता है ? इसके बारे में कठोपनिषद् में बताया है। 'कठ' का अर्थ होता है बहुत कठिन। कठोर तप, साधना करने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसका जो उपाख्यान है वह यमाचार्य और नचिकेता का उपाख्यान है। बहुत प्रसिद्ध है। नचिकेता की कैसी-कैसी परीक्षा ली है यमाचार्य ने, बहुत कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नचिकेता ब्रह्म विद्या को प्राप्त करते हैं। कठोर, तपस्या करने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसलिए इसको कहते हैं कठोपनिषद्।

चौथा उपनिषद् हम पढ़ेंगे 'प्रश्नोपनिषद्'। जब व्यक्ति कठोर तप करता है, बहुत परिश्रम करता है तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जैसे हम बचपन में स्कूल जाते हैं, पढ़ते हैं, एक-एक अक्षर हमको पढ़ा दिया जाता है कि 'अ' ऐसा होता है, 'आ' ऐसा होता है अथवा जैसे पहाड़े सिखाते हैं वह पहले रटा देते हैं कि आपको ऐसे करना है, ऐसे करना है, ऐसे करना है। छोटा बच्चा है उस समय तो रट लेता है। जब वह बड़ा हो जाता है, तब उसको रटने के लिए कहते हैं तो वह रटता नहीं है। वह कहता है ऐसा क्यों ? आप समझाओ और समझाने से समझ जाता है। बचपन में हम रटते थे। अब वह रटने की स्थिति नहीं है। अब हम समझना चाहते हैं। जैसे ही व्यक्ति कठोर तप करता है, पुरुषार्थ करता है उसके मन में प्रश्न उठता है। उसके मन में जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होता है। मैं यह जो कर रहा हूँ, किसलिए कर रहा हूँ ? यह जो जिज्ञासा भाव उत्पन्न होता है, उसको प्रश्न कहते हैं। इस प्रश्नोत्तर शैली से हमको विषय बहुत अच्छी तरह से समझ में आते हैं। वेद में भी यह प्रश्नोत्तर शैली है। वेद में अनेक मन्त्र आप देखेंगे, पहले मन्त्र में प्रश्न उठाया गया और अगले मन्त्र में उसका उत्तर दिया। इस उपनिषद् में भी ऐसे ही प्रश्न और उत्तर हैं। इसलिए इसको कहते हैं प्रश्नोपनिषद्। पूरा व्याकरण महाभाष्य प्रश्नोत्तर शैली में है। प्रश्न उठाते हैं, उसका उत्तर देते हैं। न्यायदर्शन में भी पहले प्रश्न उठाते हैं फिर उत्तर देते हैं। सत्यार्थ-प्रकाश में भी आप देखेंगे, प्रश्न-

उत्तर हैं। क्योंकि प्रश्नोत्तर शैली में विद्यार्थी, स्वाध्यायशील व्यक्ति को बहुत अच्छा समझ में आ जाता है। इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् है।

प्रश्नोपनिषद् के बाद 'मुण्डकोपनिषद्' है। मुण्डक का अर्थ होता है। 'मुण्डनं करोति इति मुण्डकः'। जो मुण्डन कर देता है। मुण्डन क्या होता है? बाल काटना, बाल काटने से मुण्डन हो जाता है। ऐसे ही हमारे अन्दर से जो अज्ञान तिमिर अन्धकार है, उस अज्ञान अन्धकार को जो मुण्डन कर देता है उसका नाम है मुण्डकोपनिषद्। मुण्डकोपनिषद् बहुत रुचिकर है। वैसे तो सभी उपनिषद् में आध्यात्मिक विषय हैं। परन्तु मुण्डकोपनिषद् में एक से बढ़कर एक श्लोक मिलेगा जो विवेक, वैराग्य, ब्रह्मविद्या, साधना से सम्बन्धित हैं। एक एक श्लोक बहुत प्रेरित करता है। ये हमारे अज्ञान अन्धकार को मुण्डन कर देते हैं, हटा देते हैं। इसलिए इसका नाम है मुण्डकोपनिषद्।

मुण्डक के बाद 'माण्डूक्योपनिषद्' है। मुण्डक का जो भाव है उसको माण्डूक्य कहते हैं। माण्डूक्योपनिषद् इन ग्यारह उपनिषदों में सबसे छोटा उपनिषद् है। माण्डूक्योपनिषद् में केवल बारह ही श्लोक हैं, बारह ही मन्त्र हैं, बारह ही खण्ड हैं। उन बारह खण्ड में पूरे ब्रह्माण्ड का और हमारे जीवन का वर्णन करके रखा है। तो हम कैसे-कैसे जीवन में किस-किस अवस्था से गुजरते हैं? उसकी तुलना करके ब्रह्म को बताया है।

माण्डूक्योपनिषद् के बाद 'तैत्तिरीयोपनिषद्' है। 'तितिरि' एक ऋषि थे। उनके द्वारा बनाया गया इसलिए इसको तैत्तिरीयोपनिषद् कहते हैं। संसार में जन्म लाभ करके कैसे हम इसमें संतरण कर सकें, इसमें डूब न जाएं। संसार में डूब गये तो जैसे नाव डूब जाने पर दुर्दशा होती है वैसे ही दशा होती है। हम डूब न जाएं, संसार में हम तैरते रहें और तैरते-तैरते इस संसार सागर को पार कर जाएं। इस विषय को बताने वाले ऋषि 'तितिरि ऋषि' थे। इसलिए उनके द्वारा प्रोक्त उपदेश होने से ग्रन्थ को कहते हैं तैत्तिरीयोपनिषद्।

तैत्तिरीयोपनिषद् के बाद 'ऐतरेयोपनिषद्' है। 'इतर' नाम के एक ऋषि थे। उनके द्वारा बताया गया है, इसमें विशेष करके सृष्टि रचना के बारे में वर्णन है। सृष्टि की रचना देखकर केवल सृष्टि में ही हम अपने आपको खो न दें। इससे अलग इतर का अर्थ क्या होता है? अन्य, दूसरा, भिन्न, द्वितीय। इससे दूसरा भी कोई है। सृष्टि में जो पदार्थ हैं वे तो हमको आँख से दिख जाते हैं लेकिन ये आँखों से दिखने वाले पदार्थों के अन्दर न दिखने वाला कोई पदार्थ दूसरा है। 'इतर' का अर्थ होता है दूसरा जो तत्त्व है, उस तत्त्व को जनाने का कथन होने से इसको कहते हैं ऐतरेयोपनिषद्।

ऐतरेयोपनिषद् के बाद 'छान्दोग्योपनिषद्'। 'छान्दोग्योपनिषद्' शब्द में छन्द का अर्थ होता है जो व्यवस्थित है। जैसे श्लोकों में छन्दों को हम देखते हैं, अक्षरों की एक निश्चित संख्या होती है, निश्चित क्रम होता है। इतने-इतने अक्षर उसमें होते हैं, इस प्रकार से होते हैं, नियम बद्ध होते हैं। ऐसे ही यह संसार पूरा छन्दोबद्ध है। संसार में सब जगह नियम है। यहाँ कुत्ते के भौंकने से लेकर सूर्य, चन्द्र, तारे ये जितने भी सारे पदार्थ हैं ये सब ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। ऐसा यहाँ वर्णन करते हैं। कहते हैं कि ये सारे छन्दोबद्ध हैं। ये सारे छन्दों में गान करते हैं। छन्द से जो गान करते हैं उनको कहते हैं छन्दोगा और छन्दोगा का ही भाव कर दिया 'छान्दोग्य'। संसार में प्रत्येक वस्तु छन्दोवत् है, नियमित है, नियमपूर्वक है, शृंखला है, कोई व्यवस्था है। उस व्यवस्था का गान सब कर रहे हैं। जिसको हम संध्या मन्त्र में पढ़ते हैं 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः' देवं वहन्ति केतवः, केतु का अर्थ वहाँ क्या है? संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब नियम में हैं। ये नियम किसके लिए हैं? कहते हैं ये सब परमात्मा को जनाने के लिए नियम हैं। ठीक समय पर ग्रीष्म ऋतु, ठीक समय पर वर्षाऋतु आदि ऋतु परिवर्तन होते हैं। कितने फल, फूल, वृक्ष वनस्पति नियम से चलते हैं। सूर्य, चन्द्र सब नियम से चलते हैं। ये सब केतु हैं। जैसे झण्डे को देखकर हमें मन्दिर का, आश्रम का पता चल जाता है ऐसे ही संसार के नियम को देखकर परमात्मा का ज्ञान हो जाना यह छन्द है। उसमें परमात्मा की कैसे उपासना

करनी है ? इस विषय में बताया गया है, इसलिए इसको छन्दोग्योपनिषद् कहते हैं ।

आगे है 'बृहदारण्यकोपनिषद्' — 'बृहद्' का अर्थ होता है बड़ा । जैसा उसका नाम है वैसा उसका आकार है । यह उपनिषद् सबसे बड़ा है । हम ग्यारह उपनिषद् पढ़ेंगे, उनमें ये दो उपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् सबसे बड़े हैं । उनमें भी बृहदारण्यक बड़ा है । सबसे बड़ा होने से इसका 'बृहद्' विशेषण रखा है और 'आरण्यक' कहते हैं अरण्य में बैठकर अध्ययन करने योग्य ग्रन्थ को, कई लोग कहते हैं कि हम घर में बैठकर पढ़ेंगे । नहीं ! अरण्य में बैठकर पढ़ने का अलग लाभ होता है । घर में बैठकर पढ़ने पर वैसा लाभ नहीं होता है । न पढ़ने की अपेक्षा घर में बैठकर पढ़ना तो लाभदायक है । लेकिन घर में बैठकर पढ़ने से जितना लाभ होगा, अरण्य में अर्थात् आश्रम में, गुरुकुलों में जाकर पढ़ने से उससे अधिक लाभ होगा । इसलिए इस उपनिषद् का नाम रखा गया बृहद्-आरण्यक उपनिषद् ।

अन्त में 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् — 'श्वेत' का अर्थ होता है सफेद और अश्वत जो 'श्वत' नहीं है । दोनों को मिलाकर जहाँ वर्णन किया है । संसार और ईश्वर दोनों के बारे में यहाँ वर्णन है उसको कह दिया श्वेताश्वतर उपनिषद् । इन ग्यारह उपनिषदों का क्रमशः हम अध्ययन करेंगे । ये सभी उपनिषद् अध्यात्म से ओत-प्रोत हैं । अध्यात्म से पूरे जुड़े हुये हैं ।

सबसे पहले ईशावास्योपनिषद् है । उसे प्रारम्भ करते हैं । सबसे पहला जो मन्त्र है वह यजुर्वेद का भी मन्त्र है । उस मन्त्र को पढ़ते हैं ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ये ईशावास्य उपनिषद् सबसे महत्वपूर्ण है और जिनकी स्मरण शक्ति अच्छी है उन्हें पूरा याद कर लेना चाहिए । आप लोग याद कर सकते

हैं। एक से बढ़कर एक मन्त्र अध्यात्म से ओत-प्रोत है। और उसका जो यह पहला मन्त्र है वह बहुत विशेष है। सबसे पहले जो होता है, उसकी विशेषता होती ही है। यह ईशावास्य उपनिषद् सभी उपनिषदों में प्रमुख माना जाता है और ईशोपनिषद् में भी उसका जो पहला मन्त्र है, यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह तो आप में से अधिकांश को याद ही होगा। मन्त्र में कहा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'। 'ईशा' का अर्थ होता है — ईश्वर के द्वारा। 'वास्यम्' = 'आच्छादितम्' आच्छादन करने के योग्य है। वस आच्छादने एक धातु है। आच्छादन जैसे वस्त्र हम पहनते हैं ये वस्त्र क्या करते हैं? हमारे शरीर को ढक देते हैं। बाहर से गर्मी, बाहर से सर्दी आये तो उसे रोककर हमारे शरीर को सुरक्षित रखता है। ऐसे ही यहाँ पर कहते हैं 'ईशा वास्यम्' ईशा = परमेश्वर के द्वारा, 'वास्यम्' — आच्छादन के योग्य है, आच्छादित है। क्या चीज आच्छादित है? उसको आगे कहते हैं :— 'इदं सर्वम्' इदम् = यह। सर्वम् = सारा। यह संसार है, इस में जो कुछ भी है यह सारा का सारा परमात्मा के द्वारा आच्छादित है, परमात्मा के द्वारा ढका हुआ है। परमात्मा इन सब में व्यापक है। परमात्मा सब में कण-कण में विद्यमान है। उस सब कुछ में क्या-क्या है? उसकी व्याख्या करते हैं — जगत्। 'जगत्' शब्द आप सब जानते हैं। हमारे चारों तरफ हम जो यह देखते हैं इसको 'जगत्' कहते हैं। इस 'जगत्' को 'जगत्' क्यों कहते हैं? कहते हैं — 'जायते गच्छति तिष्ठति इति जगत्' जो उत्पन्न होता है 'जात' होता है। 'ग' = 'गच्छति' फिर गतिशील रहता है, परिवर्तनशील होता है और 'तिष्ठति' कुछ काल टिकता है, उसके बाद नष्ट हो जाता है। इसका नाम है 'जगत्'। परमात्मा जगत् के कण-कण में व्यापक है। कण-कण में विद्यमान है। कैसा जगत् है? कहते हैं 'जगत्यां जगत्' 'जगति' में सप्तमी कर देंगे तो 'जगत्याम्'। संसार गतिशील है इस बात को यहाँ बताना चाहते हैं कि यह जो गतिशील जगत् है। संसार में हर वस्तु परिवर्तन-शील है। जितने भी भौतिक पदार्थ हैं उन सबमें हर क्षण परिवर्तन

होता है। जिसको हम योगदर्शन में 'अवस्था-परिणाम' नाम से कहते हैं। हर वस्तु में हर क्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होता है। भवन बना हुआ है। यह दो सौ साल बाद हमको इस रूप में नहीं मिलेगा नष्ट हो जाएगा, ढह जाएगा। दो सौ साल के बाद एक दम यह नष्ट नहीं होता है। हर क्षण थोड़ा-थोड़ा इसमें क्षय होता है और अन्त में फिर टूट जाता है, नष्ट हो जाता है। शरीर भी हमारा उत्पन्न होता है, बढ़ता है, विकास को प्राप्त होता है। फिर धीरे-धीरे क्षय होकर जरा-जीर्ण होकर फिर नष्ट हो जाता है। संसार में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, ये सब भौतिक पदार्थ निश्चित रूप से परिवर्तनशील हैं। फिर भी हम संसार के प्रति ही आकर्षित रहते हैं। संसार के चका-चौंध में हम हमेशा अपने आपको खोए रहते हैं। हमें ये उपनिषद् दर्शन देते हैं, ज्ञान देते हैं। यह जो संसार है, यह गतिशील है। इसमें हर पदार्थ हर क्षण परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है। कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति, कोई भी स्थिति जो हमारे पास आज है वह आगे नहीं रहेगी, पीछे नहीं थी। चाहे हमारा धन हो, चाहे हमारा बल हो, चाहे हमारी बुद्धि हो, चाहे हमारे पास रहनेवाले अन्य मनुष्य हों, चाहे संसार हो। कुछ भी आप ले लीजिए, भौतिक जगत् में जो कुछ भी है वह हर क्षण परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन होता ही रहता है। कभी स्थिर नहीं रहता है। कहते हैं जो परिवर्तनशील जगत् है, इस परिवर्तनशील जगत् में हमको अपरिवर्तनीय सुख नहीं मिलेगा। जगत् परिवर्तनशील तो उससे मिलने वाला सुख भी परिवर्तनशील ही होगा। संसार से हम सुख चाहते हैं। संसार में सुख है, सुख का निषेध नहीं है। लेकिन संसार में जो सुख है वह परिवर्तनशील है, आज मिल रहा है, कल नहीं मिलेगा। आज जिस स्तर पर मिल रहा है, कल उस स्तर पर नहीं मिलेगा। आज जिस मूल्य पर मिल रहा है, कल उस मूल्य पर नहीं मिलेगा। हर क्षण इसमें परिवर्तन होता है। सांसारिक सुख परिवर्तनीय सुख है और संसार को आच्छादित करके रखने वाला परम पिता परमात्मा है। वह इनसे अलग है। जो इन सब पदार्थों को देने वाला है। आगे

कहते हैं — ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’ । ‘तेन’ यह व्याकरण की दृष्टि से भी देख सकते हैं । ‘तेन’ तृतीया विभक्ति में है । तृतीया विभक्ति जो होती है वह हेतु में भी होती है । ‘तेन हेतुना’ उस कारण से क्योंकि संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं और सभी पदार्थ परमात्मा के द्वारा आच्छादित हैं । परमात्मा के द्वारा ढके हुये हैं, परमात्मा कण-कण में व्यापक है । इस हेतु से क्या करना है ? कहते हैं — ‘त्यक्तेन भुञ्जीथा’ = ‘त्यक्तेन’ — त्यागपूर्वक । ‘भुञ्जीथा’ उपभोग करो, प्रयोग करो । क्योंकि संसार हमेशा परिवर्तनशील है । उस परिवर्तनशील जगत् को ही अन्तिम सुख मानकर चलेंगे तो हम नित्य सुख को प्राप्त नहीं कर सकते । यह कहना चाहते हैं यदि आपको संसार पार करना है, इस जन्म-मरण के चक्र से हटना है, आध्यात्मिक उन्नति करनी है, तो त्याग पूर्वक भोग करो । इसको समझाने के लिए हमारे उपदेशक लोग एक उदाहरण देते हैं । कहते हैं जैसे हलवाई कढ़ाई चढ़ाकर चीनी की चासनी बनाता है । जब चासनी कुछ गर्म होती है तो जो मक्खियाँ आकर किनारे पर बैठती हैं, वे चिपकती नहीं हैं । जो बीच में आकर सीधे बैठ जाती हैं वे उसी में डूब जाती हैं, मर जाती हैं । जो लोग सांसारिक भोगों में पूरा डूब जाते हैं, उसी को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं, उसके अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं और कोई अभिलाषा नहीं, केवल सांसारिक विषयों भोगों को ही अपने जीवन का अन्तिम ध्येय बना लेते हैं, वे तो उसमें डूबकर मर जाते हैं । और जो व्यक्ति त्यागपूर्वक भोगते हैं वे संसार में डूबते नहीं हैं, किनारे में रहकर जितना आवश्यक है उतना जीवन के लिए उपभोग करते हैं, प्रयोग करते हैं, वे त्यागपूर्वक भोग करने वाले डूबते नहीं हैं, वे मरते नहीं हैं । वेद कहते हैं — ‘तेन’ उस कारण से । ‘त्यक्तेन भुञ्जीथाः’ त्यागपूर्वक भोग करो । आगे कहा — ‘मा गृधः कस्य स्विद्धनम्’ — ‘मा गृधः’ संस्कृत में (‘गृधु अभिकाङ्क्षायाम्’) किसी चीज की आकांक्षा करना, लोभ करना, तो ‘मा गृधः’ — लोभ मत करो । क्योंकि यह वेद का वाक्य है, परमात्मा का सीधा हमारे लिए आदेश है ।

कि हे मनुष्यो ! तुम लोभ मत करो । लोभ सभी पापों की जड़ है । महर्षि दयानन्द जी, महर्षि मनु जी दोनों ऋषि कहते हैं सभी पापों का जो मूल है वह लोभ है । हमारे अन्दर यदि लोभ आ जाये तो आगे-आगे अन्य विकारों को उत्पन्न करेगा । लोभ आ जाये, तो काम भी आयेगा । काम आये तो काम पूर्ति हो यह जरूरी नहीं है । कभी हमारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, कभी नहीं भी होती हैं । जब कामना उत्पन्न हुई और पूर्ण न हो तो क्या होगा ? क्रोध होगा । लोभ है तो कामना होती है । कामना पूरी न हो तो क्रोध आयेगा, क्रोध आये तो बुद्धि बिगड़ जाती है । क्या सही है, क्या गलत है ? वह ठीक निर्णय नहीं कर पाता । लोभ से कामना उत्पन्न होती है । कामना से क्रोध होता है । क्रोध आने से बुद्धि काम नहीं करती । मोह उत्पन्न हो जाता है और मोह उत्पन्न हो जाये तो विवेक समाप्त हो जाता है, तब जितने भी उल्टे काम हैं, वे सब अच्छे लगते हैं । व्यक्ति सारा उल्टा-उल्टा काम करता जाता है । तो सबसे मूल कारण जो है, वह है लोभ । भोजन में भी ऐसे ही है । भोजन खाने का लोभ है । तो सारे रोग आते हैं ऐसा चरक संहिता में हम पढ़ते हैं । चाहे खाने का लोभ हो, चाहे विषयों का लोभ हो, किसी विषय में यदि लोभ हो तो आगे-आगे शृंखला चल पड़ती है । फिर आगे सारे दोष, सारे पाप हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं । इसलिए कहा कि — ‘मा गृधः कस्य स्विद्धनम्’ । ‘क’ शब्द का एक अर्थ होता है — प्रजापति । जैसे हम स्तुतिप्रार्थनोपासना में बार-बार पढ़ते हैं — ‘कस्मै देवाय हविषा-विधेम’ । ‘क’ का चतुर्थी में ‘कस्मै’ है । उसी ‘क’ का षष्ठी में ‘कस्य’ होगा । तो ये सब जो धन है परमात्मा का है । परमात्मा का धन है तो उसमें आप लोभ मत करो । ज्ञानी व्यक्ति, बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों को खिलाता है, स्वयं भी खाता है । यही बात यहाँ पर कहते हैं । कुछ त्याग करो, कुछ भोग करो । केवल भोग करें तो हम लोभी हो जाएंगे और लोभ होने से सारे पाप आएंगे । इसलिए मन्त्र में कहा है कि परमात्मा का धन है । परमात्मा के धन के ऊपर लोभ मत करो । ‘कस्य’ का दूसरा अर्थ करते

हैं किसका । दूसरे किसी का है तो उसके ऊपर आप लोभ मत करो । यह भी अर्थ हो जायेगा । परमात्मा की ये सारी सम्पत्ति है उसमें तुम लोभ मत करो । यह मेरा है, यह मेरा है, यह मेरा-मेरा मत करो । यह सब परमात्मा का है । यह एक स्थिति है । दूसरी बात है परमात्मा की ओर से और हमारे ज्ञान, बल, बुद्धि, सामर्थ्य के अनुसार जो प्राप्त हुआ उसमें हम सन्तोष करें । दूसरों के धन के ऊपर लोभ न करें । हमें जो ईश्वर की कृपा से, हमारे पुरुषार्थ से मिला है, उसमें हम पूर्ण तृप्त रहें, उसमें पूर्ण सन्तोष का पालन करें । **‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य सिवद्धनम्’** किसी के भी धन के प्रति कभी लोभ नहीं करना चाहिए । कोई यदि हमारे धन के ऊपर लोभ करता है, तो हमको कैसा लगता है ? यदि कोई हमारा धन अन्याय पूर्वक छीनना चाहता है, ले जाना चाहता है, तो हमको अच्छा नहीं लगता है, बुरा लगता है, तो हम भी किसी के धन, किसी की योग्यता, किसी का सम्मान, किसी के ऐश्वर्य के प्रति यदि लोभ करेंगे तो दूसरे व्यक्ति को भी ऐसा ही अनुभव होगा जैसे हमें अनुभव होता है । इसलिए सबसे पहले यह ईशावास्य उपनिषद् पूरा आत्मवत् व्यवहार की शिक्षा देता है । पहले मन्त्र में यही कहते हैं कि आप किसी के धन के प्रति लोभ मत करो । सबसे जो प्रमुख बात है, इस मन्त्र में बताई कि ईश्वर सर्वव्यापक है, कण-कण में व्यापक है । जब हम ईश्वर को सर्वव्यापक अनुभव करते हैं तो हमारे जीवन में परिवर्तन होता है । हमारे पास, हमारे साथ, हमारे सामने, हमारे गुरु जी खड़े हैं तो हम कैसा अनुभव करते हैं ? न हम गुरु जी के सामने क्रोध करते हैं, न गुरु जी के सामने हम कोई अन्य गलत आचरण करते हैं । गुरु जी हैं तो हम सावधान हो जाते हैं । जैसे हम गुरु जी के सामने अनुभव करते हैं, बिल्कुल सावधान हो जाते हैं । ऐसे ही इस मन्त्र में कहा — परमात्मा को सब जगत् में आच्छादित अनुभव करो । श्रवण तो कर लिया । इसी को मनन करें, इसी को निदिध्यासन करें और इसको यदि हम जीवन में ले आएँ, कण-कण में हर क्षण परमात्मा की उपस्थिति यदि हमारे मन मस्तिष्क

में स्थिर हो जाए, तो हमारा जीवन बदल सकता है। व्यक्ति गलती कब करता है ? जब व्यक्ति को दण्ड का भय नहीं होता है। यदि हम परमात्मा को सर्वत्र अनुभव करेंगे और परमात्मा ने यह आदेश भी दिया है कि दूसरे के धन का लोभ मत करो। यदि हम लोभ करेंगे तो परमात्मा हमको देख रहा है, जान रहा है, सुन रहा है। ऐसी जब हमारे अन्दर अनुभूति होगी और उसके साथ-साथ परमात्मा की शक्ति सामर्थ्य को जानेंगे, तो हम गलत नहीं करेंगे। हमारे सामने चाहे पुलिस हो, चाहे सरकार हो, गुरुजन हों, माता-पिता हों ये तो हमको कभी दण्ड दे भी सकते हैं और नहीं भी दे सकते हैं। हम इनसे बच भी सकते हैं। लेकिन परमात्मा की न्याय व्यवस्था से हम कभी भी नहीं बच सकते हैं। यदि हम गलत करें तो परमात्मा का दण्ड अवश्य प्राप्त होगा। यह बात यदि हमारे मन मस्तिष्क में स्थिर हो जाए कि परमात्मा सब जगह व्यापक है। और उन्होंने यह आदेश दिया है कि कभी लोभ मत करो, त्याग पूर्वक भोग करो, त्यागपूर्वक उपयोग करो। इतना यदि हम पूरे जीवन में आचरण करते हैं तो हमारे जीवन के लिए यह बहुत उपयोगी हो जायेगा। उपनिषदों के ऐसे एक-एक मन्त्र, एक-एक श्लोक हमारे सम्पूर्ण जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन करने के लिए समर्थ हैं। ईशोपनिषद् को जो स्मरण कर सकते हैं आप लोग स्मरण कर लीजिये। कम से कम आज एक मन्त्र पढ़ा तो इसी मन्त्र को हम याद कर लें। कल दो होंगे तो दो मन्त्र याद कर लें। ऐसे भी करेंगे तो हो सकता है। जिनकी सामर्थ्य नहीं है, वे न करें, कोई बात नहीं। लेकिन हम आलस्य प्रमाद न करें। जितना पुरुषार्थ कर सकते हैं, उतना ही हमारा कल्याण होगा। आज यहीं पर विराम देते हैं। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



दूसरी कक्षा

उपनिषद् की दूसरी कक्षा है। पीछे हमने उपनिषदों का परिचय देखा था। और किसी भी शास्त्र को पढ़ने में चार अनुबन्ध होते हैं। उनको जाना था। इस ईशोपनिषद् में सबसे पहला जो मन्त्र है उसके ऊपर हमने चर्चा की थी। त्यागपूर्वक भोग करें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यह वेद का भी मन्त्र है और महर्षि दयानन्द जी ने इसका भाष्य भी किया है। ‘तेन त्यक्तेन’। ‘त्यक्तेन’ — का अर्थ महर्षि ने किया ‘वर्जितेन तच्चित्तरहितेन’ वर्जन करके, त्याग करके मतलब ‘तत् चित्’ न होना। वैशेषिक दर्शन में छठे अध्याय के दूसरे आह्निक में दसवाँ सूत्र है ‘सुखाद् रागः’ सुख भोगने से हमारे अन्दर राग उत्पन्न होता है। और उसके बाद अगला सूत्र कहा — ‘तन्मयत्वाच्च’ तन्मय होने से भी राग उत्पन्न होता है। जिस विषय में हम तन्मय होते हैं, उसके बारे में बार-बार चिन्तन-मनन करते हैं, तो उस विषय के प्रति हमारे अन्दर राग उत्पन्न होता है। आयुर्वेद में हमने पढ़ा है कि भोजन कैसे करना चाहिए? ‘तन्मना भुञ्जीथ’ तन्मना होकर भोजन करें। अब आपको लगेगा कि देखो! वहाँ कहते हैं कि तन्मय होने से राग हो जायेगा और आयुर्वेद में कहा गया — तन्मय होकर भोजन करना चाहिए। तो दोनों में परस्पर विपरीत बात कही है। दोनों परस्पर विपरीत नहीं हैं। आयुर्वेद में जो कहा है — ‘तन्मना भुञ्जीथ’ भोजन करते समय भोजन में ही हमारा मन रहना चाहिए और भोजन प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। दुःखी होकर, खिन्न होकर, क्रोधित होकर, द्वेष-भाव को उत्पन्न करके भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन को बड़े प्रसन्न चित्त होकर करना है। आप इसको ऐसे समझें, जैसे माताएँ भोजन बनाती हैं, लेकिन माताएँ पहले भोजन नहीं खाती हैं, वे दूसरों को पहले

खिलाती हैं, दूसरों को खिलाने पर उनको प्रसन्नता होती है या नहीं होती है ? जब दूसरों को खिलाते समय प्रसन्नता होती है तो हम स्वयं खाते समय भी प्रसन्न हो सकते हैं । लेकिन वे राग युक्त होने के लिए मना करते हैं । राग युक्त होना और राग से वियुक्त होना कैसे होता है ? योगदर्शन में दूसरे पाद का छठा सूत्र है — ‘दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता’ अस्मिता क्लेश की व्याख्या करते हुये महर्षि व्यासजी ने वहाँ एक महत्वपूर्ण बात कही है, उन्होंने बताया कि ‘भोक्तृभोग्यशक्त्योः’ एक भोक्तृ शक्ति है, दूसरी भोग्य शक्ति है, एक भोग्य पदार्थ है, दूसरा भोक्ता है । भोक्ता और भोग्य पदार्थ, जब ये दोनों मिलते हैं, तब कैसा होता है उसका उन्होंने वर्णन किया । ‘अत्यन्त-असंकीर्णयोः’ ये दोनों आपस में बिल्कुल घुलते-मिलते नहीं हैं । कुछ चीजें होती हैं घुल-मिल जाती हैं । जैसे सत्तू को आपने दूध में घोल लिया तो घुल-मिल गया फिर भी सत्तू का अस्तित्व थोड़ा हमको दिखता है और यदि चीनी को घोलते हैं, तो चीनी बिल्कुल मिल जाती है । चीनी का अलग अस्तित्व दिखता नहीं है । सत्तू का थोड़ा सा दिखता है तो महर्षि व्यास जी कहते हैं । ‘अत्यन्त-असंकीर्णयोः’ ये बिल्कुल एक-दूसरे में घुलने-मिलने वाले नहीं हैं । कौन ? भोक्तृशक्ति । और कौन ? भोग्यशक्ति । भोग्य पदार्थ और भोक्ता जीवात्मा ये दोनों आपस में थोड़ा सा भी घुलने-मिलने वाला नहीं हैं । घुलने मिलने वाला न होने से ‘अत्यन्त-असंकीर्ण’ हैं । संकीर्ण कहते हैं — घुल मिल जाना, और असंकीर्ण कह दिया तो घुलने-मिलने वाला नहीं है । फिर भी ये जब एक जैसे प्राप्त होते हैं तब उसको कहते हैं भोग । भोजन करते हुये व्यक्ति उसी में डूब जाता है । और किसी-किसी को आप देखेंगे, टी.वी. देखते हैं तो टी.वी. देखते समय और उनको कुछ भी ध्यान नहीं रहता है; कोई आया, कोई गया और कुछ हो रहा है, आँधी आ रही है, दरवाजा, खिड़की बन्द कर दूँ, कोई ध्यान नहीं, एकदम उसमें डूब जाते हैं । अपने आपको उससे पृथक् अनुभव नहीं कर पाते हैं । यह जो स्थिति है इसको कहते हैं भोग । और इसके विपरीत को कहते हैं कि ‘स्वरूपप्रतिलम्भे

तु तयोः—कैवल्यमेव' जब स्वरूप का ज्ञान होता है, अर्थात् चाहे भोजन करते हैं, चाहे किसी भी विषय का हम सेवन करते हैं, सेवन करते हुये यदि हम आत्मस्वरूप में रहते हैं तो कहते हैं 'कैवल्यमेव' वह कैवल्य ही है। वह मोक्ष के तुल्य ही है। मोक्ष में क्या होता है आत्मा सबसे पृथक् रहता है। यदि सांसारिक विषयों को सेवन करते हुये भी व्यक्ति उनसे पृथक् अपने आपको अनुभव करता है। तो 'कैवल्यम्-एव' उसको भोग नहीं मानते हैं। योगी भी अच्छे-अच्छे पदार्थों का सेवन करता है। लेकिन करते हुये क्या करता है? वह आत्मस्वरूप में रहता है। आयुर्वेद में जो कहा 'तन्मना भुञ्जीथ', भोजन करते हुये भी हम आत्म स्वरूप का बोध रखते हैं, अधिक भोजन नहीं करते हैं, अनावश्यक भोजन नहीं करते हैं। जब हम अपने आत्म-स्वरूप में रहकर उन विषयों का भोग, उपभोग, उपयोग करते हैं; शरीर को स्वस्थ रखने के लिए, मुक्ति की प्राप्ति के लिए तो उसको भोग नहीं कहते हैं। यह महर्षि व्यास जी ने परिभाषा दी है। जब दोनों घुल मिल गये, अपने को उससे पृथक् अनुभव नहीं कर रहे, आत्मा अलग और विषय अलग है, ऐसा अनुभव नहीं कर रहे तो कहते हैं 'भोगाय कल्पते' भोग के लिए समर्थ होता है। वह भोग हो रहा है और जब हम अपने आपको अलग अनुभव करते हैं तो कहते हैं वह तो कैवल्य ही है, वह मोक्ष ही है। महर्षि दयानन्द जी का भी यही भाव है। 'वर्जितेन तच्चित्तरहितेन' उसमें चित्त से युक्त होते हुए भी हम अपने आपको पृथक् अनुभव करें। हित और अहित ध्यान रखकर यदि हम उसका प्रयोग करते हैं तो ये वस्तुयें मुक्ति दिलाने वाली हैं, मुक्ति के लिए आवश्यक विषयों का योगी भी प्रयोग करता है। सांसारिक व्यक्ति भी प्रयोग करता है। यदि हम मुक्ति की प्राप्ति के लिए इन विषयों का प्रयोग करते हैं, तो भोग नहीं कहलायेगा। अथवा उसको हम नहीं कह सकते कि विषयों के प्रति आसक्त है। ऐसी स्थिति को यहाँ पर बताया गया। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इसलिए त्यागपूर्वक भोग करो। मन में उसके प्रति आसक्तिरहित होकर भोग करो। आसक्ति का मतलब जो गलत

अर्थ में है। इच्छा तो होगी, इच्छा के बिना हम विषयों का सेवन कैसे करेंगे ? लेकिन इच्छा गलत नहीं होनी चाहिए, गलत इच्छा में और सही इच्छा में अन्तर यह है जब इच्छा आवश्यकता से अधिक हो। अनावश्यक वस्तुओं का प्रयोग करते हैं तब उसको कहते हैं यह गलत इच्छा है, राग युक्त है। और यदि हमको जितना आवश्यक है उतना ही हम प्रयोग करते हैं तो वह आवश्यक है प्रयोग कर सकते हैं। प्रमाण क्या है ? महर्षि दयानन्द जी सत्यार्थ प्रकाश नौवें सम्मुल्लास में मुमुक्षुत्व का अर्थ लिखते हैं कि मुक्ति और मुक्ति के साधन के बिना अन्यो में प्रीति न होना। मुक्ति में भी हमारी प्रीति हो सकती है और मुक्ति के जो साधन हैं भोजन, वस्त्र, भवन ये सब मुक्ति के साधन हैं। इन साधनों में भी हम प्रीति रख सकते हैं। लेकिन जो मुक्ति के लिए अनावश्यक या विपरीत है उसमें प्रीति नहीं होनी चाहिए। उसी को इस मन्त्र में कहा — ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’ त्यागपूर्वक भोग करो। मन्त्र का अन्तिम भाग था ‘मा गृधः कस्यस्विद्धनम्’ किसी के धन के प्रति लोभ मत करो। यह सारा संसार परमात्मा के द्वारा आच्छादित है। हमारे पास जो सम्पत्ति है उसको प्राप्त भी करते हैं, रखते भी हैं, लेकिन हम उसको पूर्ण सुरक्षित रख भी नहीं पाते क्योंकि हम यहाँ बैठे हैं, और सम्पत्ति घर में है, कमरे में है, वह तो उधर है, हम इधर हैं, हम सुरक्षित नहीं रख पाते हैं। लेकिन परमात्मा सब जगह विद्यमान है, कण-कण में विद्यमान है। सारे संसार का मालिक, स्वामी प्रभु है और प्रभु सर्वत्र विद्यमान भी है। अपनी सम्पत्ति जहाँ है, वहाँ प्रभु भी विद्यमान है। अन्य वस्तुएँ अन्य व्यक्तियों की जो सम्पत्ति है वह तो आप चुराकर भी ले सकते हैं। लेकिन प्रभु की सम्पत्ति को चुराकर नहीं ले सकते। प्रभु वहाँ बैठे हैं, सब देख रहे हैं। जितना हम लेते हैं और जो भी हम करते हैं, उसको प्रभु तत्काल जानते हैं। इसलिए वहाँ कहा ‘मा गृधः कस्य स्विद्धनम्’ ये धन सब ईश्वर का है, तो ईश्वर की सम्पत्ति के ऊपर हम लोभ न करें, लालच न करें। यह ईश्वर की सम्पत्ति है, सब कुछ ईश्वर का है। तो हमें करना क्या है ? कुछ

नहीं करें, हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाएँ। सारा कुछ ईश्वर का ही है। हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, तो उसके लिए अगला मन्त्र बताते हैं —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

यह भी प्रसिद्ध मन्त्र है। ‘कुर्वन्-एव-इह कर्माणि’ हमारा यह जो वैदिक सिद्धान्त है यह वैदिक सिद्धान्त कर्म से हटने की बात नहीं करता। वैदिक सिद्धान्त में देखिए मन्त्र का पहला ही शब्द लिया। ‘कुर्वन्’ कर्म को करते हुये। वैदिक धर्म में चार आश्रम हैं, ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम। सब जगह आश्रम = ‘आ समन्तात् श्रमः क्रियते अस्मिन् इति आश्रमः’ जिसमें सब ओर से परिश्रम किया जाता है, उसको आश्रम कहा जाता है। अन्त में संन्यास आश्रम है, तो उसको भी आश्रम रखा है वहाँ आराम करने के लिए नहीं कहा, तो आराम करना यह वैदिक धर्म का सिद्धान्त नहीं है। व्यवहारभानु में महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि अनाथों का पालन करना, यह कर्तव्य है हमारा। तन, मन, धन से हम किस-किस काम को करें? वहाँ चार बातें बताई हैं। अपने सम्बन्धियों की रक्षा करनी है, विद्या की वृद्धि करनी है, परोपकार करना है और अनाथों का पालन करना है। ये चार काम बताये। इन चार कामों में हम तन, मन, धन इनका उपयोग करें। अनाथ किसको कहते हैं? अनाथ का अर्थ है, जो अपने काम करने में स्वयं समर्थ नहीं है। छोटे बच्चे हैं, वे अपना काम करने में स्वयं समर्थ नहीं हैं। वृद्ध हो गये, शरीर जरा-जीर्ण हो गया, चलने-फिरने की शक्ति नहीं है। दूसरे व्यक्ति ही उनका पालन कर सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति विकलांग हो गया, अपाहिज हो गया। अब वह स्वयं अपना काम नहीं कर सकता है। तो ऐसे अनाथों का पालन करने के लिए विधान किया है। लेकिन महर्षि ने इसके साथ-साथ एक छोटी सी बात साथ में जोड़कर लिख

दी । फिर भी अनाथों का पालन करते हुये जिससे जो काम हो सके, उससे वह काम कराना है । “न किसी को खाली रहना है, न किसी को खाली रखना है ।” हमारे वैदिक सिद्धान्त में खाली रहना, निकम्मापन नहीं है । हर समय हमको जितना हो सके, जो हो सके, मेरी जो योग्यता है, मेरे शरीर में जो शक्ति सामर्थ्य है, उसके आधार पर मुझे कार्य करना चाहिए । महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि किसी को भी खाली न रखना चाहिए, न रहना चाहिए । आज कल आप देख सकते हैं जैसे कुष्ठ आश्रमों में जो कुष्ठ रोगी होते हैं, उनसे भी कुछ न कुछ काम कराया जाता है । जो हो सके, हाथ से नहीं तो और किसी प्रकार वे काम करते हैं । किसी न किसी प्रकार कुछ न कुछ कार्य उनसे लेते हैं । यह वैदिक सिद्धान्त है । वेद मन्त्र में कहा ‘कुर्वन्-एव-इह’ कर्म करते हुये ही, कर्म करना सबसे पहले कहा । एक नीतिकार कहते हैं —

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।

नास्ति-उद्यमसमो बन्धुः-यं कृत्वा नावसीदति ॥

मनुष्य शरीर में स्थित आलस्य एक बड़ा शत्रु है, दूसरे शत्रु तो हमारे बाहर होते हैं, हमसे अलग होते हैं, लेकिन हमारे शरीर के अन्दर ही एक बहुत बड़ा शत्रु विद्यमान है । उसको कहते हैं — ‘आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः’ आलस्य बहुत बड़ा शत्रु है । मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ, योगियों को छोड़ दीजिए, बाकी जितने भी व्यक्ति हैं सब लोग निश्चित रूप से अपने जीवन में आलस्य करते ही करते हैं, प्रमाद करते ही करते हैं । शरीर से हम जितना श्रम कर सकते हैं, शरीर में जितना सामर्थ्य है, जितनी शक्ति है उसका पूरा-पूरा हम उपयोग नहीं करते हैं । हम देख सकते हैं, हमारे जीवन में कितना समय ऐसे ही व्यर्थ चला जाता है । कोई उपयोगी कार्य नहीं करते हैं । न अभ्युदय के लिए कुछ करते हैं, न आत्मिक उन्नति के लिए कुछ करते हैं । दोनों कार्यों को बिना किये आलस्य में हमारा समय चला जाता है । प्रत्येक व्यक्ति का, प्रत्येक दिन कितने ही घण्टे, कितने ही मिनट आलस्य में चले जाते हैं । इसलिए नीतिकार

ने कहा कि आलस्य जो है सबसे बड़ा शत्रु है। साथ में जोड़ते हुये कह दिया 'नास्ति-उद्यमसमो बन्धुः'। बन्धु = मित्र, दोस्त 'उद्यम' है। पुरुषार्थ करने के समान हमारा कोई मित्र नहीं है। आचार्य ज्ञानेश्वर जी अपनी दैनन्दिनी में सबसे पहले पृष्ठ में लिख रखते थे —

“पुरुषार्थ ही इस जीवन में सब कामनाओं को पूरा करता है।

मन चाहा सुख उसने पाया जो आलसी बनके पड़ा न रहा।”

“मौत भी कभी डरा सकती है, मरकर जीने वालों को।

बाधाएँ कभी रोक सकती हैं, आगे बढ़ने वालों को ॥”

न मौत डरा सकती है, न बाधाएँ रोक सकती हैं। जो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है वह इनके ऊपर विजय प्राप्त करता है। यदि मन में सुख को प्राप्त करने की इच्छा है तो सुख अवश्य मिलता है। किसको ? जो पुरुषार्थ करता है। हमारी समस्त कामनाओं को पूरा करने वाला पुरुषार्थ ही एक गुण है। यह ही मन्त्र कह रहा है 'कुर्वन्-एव-इह कर्माणि' यह वैदिक आदेश है कि व्यक्ति के अन्दर सेवा करने की भावना उत्पन्न हो, पुरुषार्थ करने की भावना हो। जब पुरुषार्थ नहीं करता है व्यक्ति, तब आलसी बन जाता है। आलसी होगा तो स्वार्थी भी होगा। पुरुषार्थ करने पर ही स्वार्थ की भावना कम होती है। बहुत प्रकार के कर्म हैं, कौन-से कर्म करते हुये यह बताएंगे। आगे कह रहे हैं कि 'जिजीविषेच्छतं समाः'। 'जिजीविषेत्' — जीने की इच्छा करें। जीने की इच्छा करने का अधिकार किसको है जो पुरुषार्थ करता है। हम जीने की तो इच्छा करते हैं, प्रतिदिन मन्त्र पाठ करते हैं — 'पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रुवाम शरदः शतम्।' सौ साल तक हम देखें, जीवित रहें, सुनें, सुनाएं, स्वतन्त्र रहें। ये सब हम इच्छा करते हैं। तो साथ में हमको करना क्या है ? 'कुर्वन्-एव-इह कर्माणि' ये परस्पर जुड़े हुये हैं। जैसे गायत्री मन्त्र में हम क्या देखते हैं ? 'भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्'। 'सवितुः देवस्य वरेण्यं भर्गः

धीमहि' सविता देव के वरेण्य भर्ग को हम धारण करते हैं, वह जगदीश्वर हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग में प्रेरित करे। पहली शर्त क्या है? हम धारण करें। परमात्मा को धारण करना प्रथम कर्तव्य है, जब हम प्रथम कर्तव्य करते हैं, परमात्मा को अन्तरात्मा में धारण करते हैं तब बुद्धि के लिए हम प्रार्थना कर सकते हैं। प्रार्थना का अधिकारी वही है जो धारण करें। ऐसे ही 'जिजीविषेच्छतं समाः' सौ वर्ष जीने की इच्छा कौन करे? 'कुर्वन्-एव-इह कर्माणि' इस संसार में, इस जन्म में, इस जीवन में, कर्मों को करते हुए, हम सौ साल तक जीने की इच्छा करें। वैदिक व्यवस्था में मरने के लिए कहीं विधान नहीं है। तुम मर जाओ, ऐसा नहीं है। लोग इसके ऊपर संशय उठाते हैं कि जो व्यक्ति अपङ्ग हो गया, बहुत कष्ट हो रहा है, वह चाहता है कि मैं मर जाऊँ, तो मरना यह वेद की तरफ से स्वीकृत है या नहीं है? नहीं है। कहीं पर किसी मन्त्र में आपको मिलेगा नहीं कि दुःख अधिक हो रहा है, कष्ट हो रहा है तो आप मृत्यु को स्वीकार कर सकते हैं। स्वयं आप मर सकते हैं, ऐसा कुछ नहीं है। अगले मन्त्र में ही मना करेंगे। 'आत्महनो जनाः' आत्महत्या करने का हमारे यहाँ विधान है ही नहीं। मन्त्र में तो यही कहा है कि जीने की इच्छा करो। जीने की इच्छा कितने वर्ष तक करें? कहते हैं कि सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस, बीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी ही नहीं सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। महर्षि दयानन्द जी इसके भावार्थ में कहते हैं — सौ वर्ष तक जीने की इच्छा का मतलब हम अल्पायु न होवें। जो अकाल मृत्यु है वह हमारे पास न आवे, उसको हम दूर करें। दूर करने के लिए महर्षि ने तीन साधन बताये। सबसे पहले बताया ब्रह्मचर्य का पालन करना। ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही व्यक्ति सौ साल तक जीवन जी सकता है। दूसरा साधन बताया — विद्या, सुशिक्षा से संयुक्त होना। विद्या जो अर्जन करता है वही व्यक्ति आगे दीर्घ जीवन को प्राप्त होता है। महर्षि मनु ने एक जगह कहा है ऋषि लोग दीर्घ काल तक संध्या करते थे। इसलिए वे

‘दीर्घमायुराप्नुवन्’ लम्बी उम्र को प्राप्त करते थे। जो विद्या, शिक्षा को प्राप्त करता है, उसको पता चलता है कि जीवन कैसे दीर्घ होता है। इसलिए सबसे पहले बताया — ब्रह्मचर्य। दूसरा बताया — विद्या और सुशिक्षा। तीसरा बताया — युक्त आहार-विहार। आहार-विहार यदि हम युक्त रखते हैं तो हम लम्बी आयु को प्राप्त करते हैं। आयुर्वेद में हमने पढ़ा है कि शरीर के तीन उपस्तम्भ हैं — आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य। आहार-विहार कह दिया तो विहार में ये सब आ जायेंगे। आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य ये तीन साधन होते हैं हमारे शरीर को टिका कर रखने के लिए। जैसे खम्भे के आधार पर मकान विद्यमान है ऐसे ही शरीर के तीन उपस्तम्भ हैं। आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य इनके माध्यम से हम सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं।

आगे कहते हैं ‘एवं त्वयि नान्यथा—इतोऽस्ति’। जो व्यक्ति ऐसे कर्म करते हुए जीता है, वही व्यक्ति सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। ‘नान्यथा—इतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे’। अब कर्म का लिप्त होना, कर्म का चिपक जाना और न चिपकना क्या होता है, इसको समझना है। ऊपर वाली पंक्ति में तो केवल कर्म के बारे में बता दिया। अब प्रायः करके हमारे मन में रहता है कि मैं अधिक से अधिक कर्म करूँ। अधिक से अधिक परोपकार करूँ, अधिक से अधिक जितना हो सके दूसरों की सहायता करूँ। कर्म एक अलग चीज है और कर्मों का संस्कार एक अलग चीज है। कर्म का फल भोगने के बाद कर्म समाप्त हो जाता है और संस्कार, फल भोगने के बाद भी समाप्त नहीं होता है। इसको आप एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने चोरी की, चोरी के बाद पुलिस ने पकड़ लिया। वह न्यायाधीश के पास जाता है। न्यायाधीश ने उसको दण्ड दिया कि आपने इतनी चोरी की, मान लीजिए एक लाख रुपये चोरी किये। अब एक लाख रुपए तो गये और कहा आपने चोरी की इसलिए आपको एक साल का दण्ड भोगना पड़ेगा। एक साल सश्रम कारावास का दण्ड है। जेल में रहेंगे और श्रम करना पड़ेगा। अब वह व्यक्ति जीवन में कभी जेल गया ही नहीं था। पहली

बार जेल गया था और जेल में आपको पता है कैसे खाने को मिलता है, कैसे रहने को मिलता है इत्यादि। सबसे बड़ी बात है बन्धन, बन्धन हम चाहते ही नहीं हैं। कमरे के अन्दर बन्द कर दें तो कैसा लगता है? उसको बहुत कष्ट हुआ वह व्यक्ति सुबह उठकर प्रतिदिन संकल्प करता है कि आगे जीवन में कभी चोरी नहीं करूँगा। चोरी करके मैं पकड़ा गया, जीवन में कभी चोरी नहीं करूँगा। एक साल तक प्रत्येक दिन वह सोचता रहा, एक साल के बाद जेल से छूट गया। वह अब जीवन में कभी चोरी नहीं करेगा क्योंकि चोरी कर्म का जो फल भोगा और फल भोगने के साथ-साथ उसने संस्कार को नष्ट कर दिया। दूसरा उदाहरण लीजिए — दूसरे व्यक्ति ने भी चोरी की और चोरी करने के बाद मान लीजिए पुलिस ने पकड़ लिया। न्यायाधीश ने उसको भी एक साल का दण्ड दिया। अब वह पकड़ा गया तो वह सोचता है :— इस बार पुलिस ने पकड़ लिया अगली बार ऐसे चोरी करूँगा कि पुलिस भी नहीं पकड़ पायेगी और रोज वह सोचता है कि अगली बार बढ़िया से चोरी करूँगा। इस बार किसी कारण पकड़ा गया आगे सावधानी रखूँगा कि पुलिस न पकड़ पाए। कर्म का फल जो है एक-एक वर्ष दण्ड दोनों ने बराबर भोगा। एक ने अपने संस्कार को मिटा दिया, नष्ट कर दिया, समाप्त कर दिया। दूसरे ने अपने संस्कार को बढ़ा दिया। यह जो संस्कार को बढ़ाया है यह क्या हुआ? कर्म लिप्त हो गया। वह चोरी कर्म में लिप्त रहेगा। जेल से छूटने के बाद वह तुरन्त दुबारा चोरी करेगा। यह कर्म की लिप्तता है। योगदर्शन में कर्म को चार विभाग में बाँटा है — शुभ कर्म, अशुभ कर्म, मिश्रित कर्म और निष्काम कर्म। निष्काम कर्म जो होता है वह चिपकता नहीं है। वह संसृष्ट नहीं होता है, लिप्त नहीं होता है। व्यक्ति कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता है और जो सकाम कर्म हैं, उसमें व्यक्ति लिप्त हो जाता है। अच्छे कर्म करते हुए भी व्यक्ति उसमें ऐसे फँस जाता है कि उससे निकलना कठिन हो जाता है। अब हम घर छोड़ कर आश्रम में रहते हैं, गुरुकुल में रहते हैं। क्यों रहते हैं? घर में हमारा

जो राग है, रागात्मक सम्बन्ध है वह छूट जाए। हम विद्या अध्ययन में निपुण हो जायें और गृह के प्रति परिवार के प्रति जो आसक्ति, राग है वह छूट जाए लेकिन कोई व्यक्ति जब आश्रम बनाना लक्ष्य बना लेता है। ईश्वर को लक्ष्य बनाकर आश्रम बनाएं तो कोई दोष नहीं है, कोई बाधा नहीं है, कोई समस्या नहीं है। परन्तु आश्रम को ही उसने लक्ष्य बना लिया, तो कर्म लिप्त होगा। अब आश्रम बनाना एक प्रकार बड़ा गृहस्थ हो जाएगा। गृहस्थ में तो व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र थोड़े लोग हैं और आश्रम में कितने लोग होते हैं? यदि हमारा ईश्वर लक्ष्य छूट जाता है, आश्रम को ही बनाना, आश्रम को ही संचालन करना यह हमारा अन्तिम लक्ष्य हो जाता है, उसके लिए हम कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाते हैं तो उस गृहस्थ से यह बड़ा गृहस्थ है। तो मन्त्र कहता है। कैसे कर्म करना है? निष्काम कर्म करना है। सकाम कर्म क्या है और निष्काम कर्म क्या है? इसको हमें समझना है, अच्छी तरह से। कर्म करना एक अलग चीज है और सकाम कर्म, निष्काम कर्म इनको जानना समझना अलग बात है। सकाम कर्म वही होता है, जिसमें हम सांसारिक सुख भोगने का प्रयोजन रखते हैं। सांसारिक भौतिक पदार्थों से सुख प्राप्ति की जो अभिलाषा रहती है, उस अभिलाषा से युक्त होकर कर्म करने को सकाम कर्म कहते हैं। चाहे वह धन हो, चाहे वह सम्मान, चाहे पुत्र-परिवार हो, चाहे पद-प्रतिष्ठा हो, कुछ भी हो। उसी से हमको सुख की इच्छा है तो उसको कहते हैं सकाम कर्म। उसी को यदि हम बदल देते हैं, वही कर्म जब हम ईश्वर प्राप्ति करने के लिए करते हैं, तो वही कर्म निष्काम कर्म बन जाता है। बुरे कर्म को छोड़ दीजिए, उसकी चर्चा करेंगे अगले मन्त्र में, हमारा प्रत्येक कर्म, जो भी शुभ कर्म है, जो भी हम अच्छे कर्म करते हैं, वे सारे के सारे अच्छे कर्म सकाम कर्म भी हो सकते हैं, निष्काम कर्म भी हो सकते हैं। वही कर्म सकाम भी हो सकता है और निष्काम भी हो सकता है। आप सत्संग भवन में, यज्ञशाला में झाड़ू लगाते हैं, आपके मन में यदि ऐसी भावना है मैं

झाड़ू लगा रहा हूँ, सफाई कर रहा हूँ, यहाँ पर लोग आएंगे, बैठेंगे, उनको प्रसन्नता होगी, साफ-सफाई देखकर उनका चित्त प्रसन्न होगा। उनको प्रसन्न करने के लिए आपने झाड़ू लगाई साफ कर दिया। यह आपका कर्म निष्काम कर्म में जायेगा। वही कर्म सकाम बन जाएगा, यदि आप सोचेंगे मुझे देखकर लोग प्रशंसा करें, कहें कि यह बहुत अच्छा काम करता है। इतनी मात्र भावना से वही कर्म सकाम कर्म में बदल जाता है। पाप नहीं है, इसको गलत मत समझना ! यदि हम परोपकार करते हैं, सकाम कर्म करने पर भी वह पुण्य कर्म है, लेकिन सकामता से युक्त हो गया और वही निष्काम कर्म हो सकता है। जब हम उसके बदले में दूसरों से कुछ अपेक्षा न रखें, मुक्ति की इच्छा कर सकते हैं, विवेक की कामना कर सकते हैं। लेकिन यदि आप प्रभु से प्रार्थना करेंगे कि मैं इतनी सेवा कर रहा हूँ, इतना परोपकार कर रहा हूँ, इसके बदले में मेरा लोग सम्मान करें, मुझे यह उपलब्धि हो जाए, यह पद मिल जाए, तो ये सब सकाम कर्म में आयेंगे। ऐसे ही हम पढ़ रहे हैं, पढ़ा रहे हैं, इसको यदि हम ऐसे सोचते हैं, यह ऋषियों की विद्या है, ईश्वरीय विद्या है। ईश्वर से यह ज्ञान-विज्ञान की परम्परा चल रही है। गुरुओं ने हमको दिया, हम आगे इसको बढ़ाते हैं। इससे मेरा जीवन सुख शान्ति से युक्त होगा और मैं दूसरों को भी सुख शान्ति से जीने की कला सिखा सकता हूँ। इतना मात्र प्रयोजन है तो यह निष्काम कर्म में आयेगा। और इसके बदले में यदि कोई व्यक्ति ऐसे सोचता है कि मैं दर्शन पढ़ लूँगा, व्याकरण पढ़ लूँगा, उपनिषद् पढ़ लूँगा, बड़ा विद्वान् बन जाऊँगा तो लोग मेरा बहुत सम्मान करेंगे, बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। मैं ऊँची स्थिति पर पहुँच जाऊँगा, लोग मेरी जय-जयकार करेंगे और धन सम्पत्ति बहुत कुछ प्राप्त हो जायेगा। बड़े विद्वानों को धन-सम्पत्ति भी मिलती है, मान-सम्मान भी मिलता है। इस उद्देश्य से यदि करता है तो वह सकाम कर्म हो जायेगा। कर्म वही है केवल भावना के अन्तर से वही कर्म सकाम बन जाता है, वही कर्म निष्काम

बन जाता है। कोई भी शुभ कर्म हम करते हैं, उसे दो भावनाओं से कर सकते हैं :— (१) सकाम भावना से, (२) निष्काम भावना से। यदि हमारा लक्ष्य होता है — मैं ईश्वर प्राप्ति के लिए पढ़ रहा हूँ और परोपकार करने के लिए ईश्वर का आदेश है। ‘कुर्वन्-एव-इह कर्माणि’ ईश्वर ने यह आदेश दिया है। तुम सेवा करो, परोपकार करो। सेवा और परोपकार का यह जो आदेश है, यह ईश्वर का आदेश है। मैं ईश्वर का आदेश मानकर यह सेवा परोपकार का कार्य कर रहा हूँ तो यह निष्काम कर्म में जायेगा। ईश्वर प्राप्ति के लिए हम कर रहे हैं तो निष्काम कर्म और उसी कर्म को यदि हम बदले में किसी सांसारिक उपलब्धि की भावना से करते हैं, इसके बदले में मुझे कुछ मिले, तो सकाम कर्म हैं। आप कहेंगे कोई निष्काम कर्म करता है तो उसको भी तो रोटी चाहिए खाने के लिए, वस्त्र चाहिए पहनने के लिए, रहने के लिए जगह चाहिए, वह उसकी कामना करेगा या नहीं करेगा ? कामना करने मात्र से सकामता आ जाती है, ऐसी बात नहीं है अथवा कामना छोड़ देने मात्र से निष्कामता आ जाती है, ऐसी बात नहीं है। उसके साथ हमारी भावना जुड़ी हुई होती है। भूख लग रही है, किसी से मैंने भोजन माँगा तो वह सकाम कर्म हो जायेगा ? नहीं। जब मैं कहूँगा मैंने आप को पढ़ाया इसके बदले में आप दीजिए, तो वह सकाम कर्म होगा। मैंने आपको पढ़ाया इसलिए आप से ही माँगूँ। आपका कर्तव्य है मेरे प्रति, मैंने आपके प्रति किया, आपने मेरे प्रति किया नहीं, जो ऐसी भावना से युक्त हो, वह सकाम कर्म है। मैं किसी से भी माँग सकता हूँ, धार्मिक व्यक्ति हो उसका मैंने कुछ उपकार किया हो, न किया हो। उसके उपकार न करने पर भी मेरे पास अधिकार है, मैं उससे माँग सकता हूँ। माँगने का अधिकार ब्रह्मचारी के पास है, माँगने का अधिकार संन्यासी के पास है। वह अपने भोजन के लिए किसी से भी माँग सकता है। हाँ, बैंक बैलेंस बढ़ाने के लिए माँगता है तो वह सकाम कर्म होगा। उसके लिए नहीं। खाने के लिए हम किसी से भी माँग सकते हैं। खाने के लिए बिना माँगे भी मिल जाता है।

व्यक्ति का जीवन अच्छा हो, आचरण अच्छा हो, तो उसको माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती, हम अपनी ओर से उपवास करते हैं व्रत करते हैं, वह अलग बात है। ईश्वरीय मार्ग में चलने पर व्यक्ति को ऐसे अभाव नहीं आते हैं। भोजन माँग सकते हैं, कपड़े पुराने हो गये, फट गये, तो हम कपड़े माँग सकते हैं। रहने के लिए स्थान चाहिए, जगह कमरा/कुटिया माँग सकते हैं। कोई आपत्ति नहीं है। ऋषि-मुनि भी वर्षाऋतु में चार महीने तक जंगल छोड़कर नगरों में चले जाते थे, गाँव में चले जाते थे, प्रचार-प्रसार करते थे। वहाँ जाकर वे आवास करते थे, आवास व्यवस्था माँग सकते हैं। उसमें कोई आपत्ति नहीं है। बदले में नहीं, मैंने यह किया, इसलिए आप मुझे यह दो, ऐसे नहीं। मुझे आवश्यकता है, इसलिए मैं माँग रहा हूँ। तो उसमें कोई सकामता नहीं है। यदि व्यक्ति बदले में माँगता है, मैंने ऐसे किया इसलिए आपको देना ही है अथवा आपसे माँगता नहीं, भावना ऐसी रखता है — देखो! मैंने इन लोगों का इतना उपकार किया इनको तो इतना ध्यान रखना चाहिए, इतना उपकार करना चाहिए। मन में भी ऐसी भावना है तो वह सकाम कर्म कहलाएगा। सकामता लेकिन पुण्य कर्म है, पाप कर्म फिर भी नहीं है। इसको पाप नहीं कहेंगे। इतना है कि मुक्ति की दृष्टि से सकाम कर्म और निष्काम कर्म की व्याख्या है। कर्म कब सकाम होते हैं, कब निष्काम होते हैं उसकी बात है।

अब महर्षि दयानन्द जी ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये एक विशेष बात बताई। जैसे आपने भी सुना होगा 'खाली मन शैतान का घर' जब हम खाली रहते हैं, मन में उल्टे-उल्टे विचार भी आते हैं। नौवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं मनुष्य की आत्मा एक क्षण भी कर्म, उपासना ज्ञान से रहित नहीं रहती है। अर्थात् हर क्षण हम कोई न कोई कर्म करते रहते हैं, चाहे शरीर से हो, चाहे वाणी से हो, चाहे मन से हो। हमारे अन्दर कोई न कोई कर्म प्रत्येक क्षण चलता रहता है। मानसिक कर्म तो चलता ही रहता है। सोते हुये भी हमारे मन में कर्म चलता

है हम स्वप्न देखते हैं तो मानसिक कर्म भी चलता रहता है। अब यदि हम मन, वाणी, शरीर को अच्छे कर्म में लगाते हैं, तो बुरे कर्म से बच जाएंगे। यदि अच्छे कर्म में नहीं लगाते हैं तो बुरे कर्म से नहीं बच सकते हैं। स्वामी सत्यपति जी महाराज कहते हैं कि यदि आप योगाभ्यास, साधना नहीं करेंगे, आज आपकी जो स्थिति है, इस स्थिति में टिककर रह नहीं सकते हो, गिरोगे नीचे। ऊपर बढ़ने के लिए प्रयत्न करना ही पड़ेगा। जो प्रयत्न नहीं करेगा, वह नीचे गिरेगा, आज जिस स्थिति में है उसी में बना ही रहेगा, यह भी सम्भव नहीं है। उसी स्थिति को बनाये रखने के लिए, हमको प्रयत्न करना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं — ‘यथा—यथा मनुष्यः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा—तथैव पापकर्मतो बुद्धिः निवर्तते।’ जैसे-जैसे हम शुभ कर्म में, निष्काम कर्म में चेष्टा करते हैं निष्काम कर्म करने के लिए, शुभ कर्म करने के लिए प्रयत्न करते हैं वैसे-वैसे हमारी बुद्धि पाप-कर्म से निवृत्त हो जाती है। पाप कर्म से बुद्धि हटती है, यह निश्चित बात है। व्यक्ति जब अच्छे कर्म को अपनाने लगता है। धीरे-धीरे उसके अन्दर बुरे कर्म के प्रति भावना घट जाती है। महर्षि दयानन्द जी का उदाहरण आप सब जानते हैं किसी ने आकर प्रश्न पूछा कि आपको कभी काम वासना सताती है या नहीं? तो महर्षि ने विचार किया और विचार करके बताया कि मेरे पास कोई समय ही नहीं है। काम वासना आकर दरवाजा खट-खट करे तो भी मेरे पास समय नहीं है। समय नहीं है उसके लिए अर्थात् वे अपने आपको अच्छे कार्य में इतना व्यस्त रखते थे कि उनके पास इन बुराइयों के लिए कोई स्थान ही नहीं था। मन्त्र यही कह रहा है ‘कुर्वन्-एव-इह कर्माणि’ कर्म करते हुए रहो। पूरा वैदिक सिद्धान्त हमको सदा-सर्वदा पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। कभी-भी खाली रहने की प्रेरणा नहीं मिलेगी। बैठकर ध्यान करना यह भी पुरुषार्थ है और यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। शरीर से पुरुषार्थ करना सरल है, वाणी से पुरुषार्थ करना उससे थोड़ा कठिन

है, मन से पुरुषार्थ करना और कठिन है। मन को सभी विषयों से हटाकर आत्म-परमात्मा के चिन्तन में लगाना, यह सबसे बड़ा कठिन कार्य है। और यह अन्तिम पुरुषार्थ है, अन्तिम प्रयोजन है। ऐसा नहीं कि कोई आँख बन्द करके ध्यान में बैठा है तो मतलब वह कुछ कर्म कर नहीं रहा है, निठल्ला है, ऐसी बात नहीं है, वह भी पुरुषार्थ कर रहा है। पुरुषार्थ करने के लिए कहा है, इसलिए सामान्य शब्द यहाँ रखा है कि **‘कुर्वन्-एव-इह कर्माणि’** कर्म करने के लिए कहा है। न शरीर का बताया, न वाणी का बताया, न मन का बताया, तीनों साधन हैं, तीनों साधनों से हम करेंगे।

व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए करे, यह ठीक नहीं है। स्वार्थी न बन जाए। इसलिए अगली पंक्ति में यही बात बताई कि ऐसे कर्म करो, जिसके द्वारा कर्म तेरे साथ लिप्त न हो जावे। स्वार्थी बनेगा तो कर्म लिप्त होंगे, जो केवल अपने लिए, अपनों के लिए और अपने सपनों को साकार करने के लिए जीवन जीता है, वह स्वार्थी है, सांसारिक व्यक्ति है। जो अपने लिए, अपनों के लिए और अपने सपने छोड़कर दूसरों के लिए जीवन जीता है, वह साधु होता है। **“परोपकाराय सतां विभूतयः”** साधु की परिभाषा यही है जो परोपकार से युक्त होता है, जैसे महर्षि दयानन्द जी। यदि आप केवल अपने स्वार्थ के लिए कर्म नहीं करते हैं तो वह कर्म आपसे लिप्त नहीं होगा। उसके साथ दूसरे के लिए हमको कर्म करना है। योग-दर्शन में हमने जैसे पढ़ा है कि कर्म कब फल देते हैं? जब क्लेश से युक्त होते हैं। **‘क्लेशमूलः कर्माशयः’** क्लेश यदि मूल में हैं तो कर्माशय फल देते हैं। यदि क्लेश मूल में नहीं हैं, तो कर्माशय फल नहीं देते हैं। धान का उदाहरण दिया गया है। जैसे धान में छिलका हो, और वह भुना हुआ नहीं हो, तो उससे अंकुर निकलता है। ऐसे ही कर्म क्लेशों से युक्त हो तब वह फल देता है और यदि वह क्लेश दग्ध बीज हो जाए। जैसे धान को, चने को, गेहूँ को भून डाला कढ़ाई में अब अंकुर नहीं निकलेगा। ऐसे ही कर्म, जिन के पीछे हमारी सकाम

भावना नहीं है वे कर्म फल नहीं देते हैं। निष्काम कर्म का फल यह है कि व्यक्ति मुक्ति की ओर बढ़ता है। वही उसका फल है। निष्काम कर्म का फल अलग से नहीं मिलेगा। जीवन्मुक्त व्यक्ति को उसके किसी भी कर्म का फल नहीं मिलता है। न उसका पाप होता है, न उसका पुण्य होता है। यदि चलते-चलते अज्ञान से चींटी मर जाये तो उसको कोई पाप नहीं लगेगा और वह जितना जीवन जीता है, परोपकार ही करता है, परोपकारमय ही उसका जीवन होता है। वह शेष जीवन पूरा परोपकार ही करता है। उसका भी कोई पुण्य फल उसको अलग से नहीं मिलेगा। वह मुक्ति की ओर बढ़ेगा। वह मुक्ति को ही प्राप्त होगा। मुक्ति के लिए ही सहायक हो जाते हैं निष्काम कर्म, तो कर्म करना चाहिए और निष्काम कर्म करना चाहिए। शुभ कर्म हम सभी करते हैं। लेकिन उन कर्मों को निष्काम कर्म भी बना दें, निष्काम कर्म में उनको बदल दें। यह मन्त्र का अभिप्राय है। तो जो व्यक्ति ऐसे शुभ कर्म में मन को लगाता है, निष्काम कर्म करता है, महर्षि दयानन्द जी ने उसके लिए कुछ बातें बतायी हैं। निष्काम कर्म करने से एक तो बुद्धि पाप कर्म से हट जाती है, दूसरा लाभ बताया 'विद्या-आयुः सुशीलता च वर्धन्ते' उसकी विद्या बढ़ती है, जो व्यक्ति निष्काम कर्म करता है, वह विद्या को प्राप्त करता है, जो व्यक्ति सकाम कर्म करता है पूर्ण विद्वान नहीं हो सकता है। महर्षि दयानन्द जी के अन्दर निष्कामता भरी हुई थी। इसलिए विद्या प्राप्त कर ली। कारण क्या है? जब सकामता होती है सांसारिक सुखों को प्राप्त करने की, तब हमारे अन्दर इच्छा होती है। हमारा पुरुषार्थ बढ़ जाता है, तो हम उस ओर चलते हैं, उन-उन चीजों को प्राप्त करते हैं। उधर हमारी गति हो जाती है। इसलिए जब व्यक्ति निष्काम कर्म में पुरुषार्थ करता है, उसकी विद्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। और आयु बढ़ती है, आप सोचेंगे निष्काम कर्म करने से आयु कैसे बढ़ेगी? निष्काम कर्म का आयु के साथ कोई ऐसे सीधा सम्बन्ध ही नहीं है। जितने भी वैद्य

हों, डॉक्टर हों सभी लोग, उनका एक ही कहना है :— जो व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है, उसको शारीरिक पुरुषार्थ करना आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शरीर से पुरुषार्थ करना आवश्यक है। ऋषियों से लेकर वैज्ञानिक तक सभी इस बात को स्वीकार करते हैं। जितना हम शारीरिक पुरुषार्थ करेंगे, हमारा शरीर उतना ही स्वस्थ रहेगा। आयु बढ़ाने के लिए हमारा शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है। अब जब एक व्यक्ति निष्काम कर्म करेगा, दूसरा सकाम कर्म करेगा, तो ज्यादा कर्म कौन कर सकता है ? क्योंकि सकाम में हमारी जितनी कामना है, उसके लिए जितना करना है, उतना ही करेंगे हम। जो निष्काम कर्म करेगा, उसके काम कभी पूरे होंगे क्या ? संसार में तब-तक उसके लिए काम है, जब-तक प्रत्येक व्यक्ति विवेक को प्राप्त न हो जाए। हर व्यक्ति जब विवेकी हो जाए तब उसका काम पूरा होता है। संसार में लोगों को विवेक प्राप्त कराना, तत्त्वज्ञान प्राप्त कराना, ये निष्काम कर्म योगी के कार्य हैं। तो उसके पास अनन्त कार्य हो जाते हैं। वह कभी खाली नहीं बैठ सकता, निठल्ला नहीं बैठ सकता है। पुरुषार्थ ही करता है। एकबार मैं ऐसे ही बोल रहा था, एक विद्यार्थी बोला आप निष्काम कर्म के लिए कहते हैं, अब बताइये हम परीक्षा देते हैं, परीक्षा में मेरे जितने भी अंक आ जायें तो शिथिलता आएगी, कम पढ़ेगा व्यक्ति। अच्छे अंक लाने हैं तभी तो मैं पुरुषार्थ करूँ और यह लक्ष्य हो गया, भावना हो गई तो यह सकाम कर्म हो गया और सकाम कर्म न करें तब परीक्षा में पास कैसे हों ? मैंने कहा अच्छा, पहले यह समझें सकाम कर्म करने से अधिक अंक आते हैं या निष्काम कर्म करने से अधिक अंक आते हैं ? अब कल्पना करिए चाहे व्याकरण में हों, दर्शन में हों अथवा आधुनिक जो पढ़ाई होती है, गणित हो, विज्ञान हो, अंग्रेजी हो, भूगोल हो उसमें कुछ ऐसी बातें आती है जो तथ्यात्मक होती हैं और विद्यार्थी को पता चलता है कि यह बात परीक्षा में कभी

आयेगी ही नहीं। परीक्षा में कैसे प्रश्न आते हैं, कौन सा प्रश्न आ सकता है, कौन-सा प्रश्न नहीं आ सकता है ? यह सब कुशल विद्यार्थी जान लेते हैं, समझ जाते हैं। अब जो विद्यार्थी यह समझेगा कि मुझे परीक्षा में अधिक अंक लाने हैं। वह पुरुषार्थ करेगा तो कितना पुरुषार्थ करेगा ? जो-जो विषय परीक्षा में आयेंगे, उन्हीं विषयों को वह पढ़ेगा और जो परीक्षा में नहीं आयेंगे, उन विषयों को छोड़ देगा। लेकिन जिसके अन्दर ऐसी सकामता नहीं है, वह ज्ञान प्राप्ति के लिए पढ़ता है। मेरा ज्ञान बढ़े, जानने के लिए जो व्यक्ति पढ़ रहा है, वह छोड़ेगा क्या ? वह कभी नहीं छोड़ेगा। गणित की जो पुस्तक होती है, उसमें जो उदाहरण देते हैं वे परीक्षा में कभी-भी नहीं आते हैं। जो उसमें अंक देखता है। वह व्यक्ति छोड़ देता है क्योंकि यह परीक्षा में तो आयेगा नहीं। क्यों पढ़ना है ? ऐसे सकाम व्यक्ति देखेगा परीक्षा के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही पढ़ना है। इससे भी अधिक तो व्यक्ति जाकर की-बुक खरीद लेता है, की-बुक में प्रश्न-उत्तर होते हैं। केवल वह परीक्षा के लिए उपयोगी हैं। उस विषय के ज्ञान के लिए उपयोगी नहीं है। वह व्यक्ति आगे चलकर किसी को पढ़ा सकता है क्या ? ऐसी योग्यता कभी प्राप्त नहीं कर सकता है। लेकिन जो व्यक्ति आदि से लेकर अन्त तक पूरा सारे विषयों को पढ़ता है वह यही सोचता है कि मेरा ज्ञान बढ़ जाए, यह मेरा प्रयोजन है। परीक्षा में अंक तो आयेंगे ही आयेंगे और ज्ञान भी बढ़ेगा, तो सकाम भावना से परीक्षा देने से लाभ हुआ या निष्काम भावना से लाभ हुआ ? निष्काम भावना से अधिक पढ़कर लाभ प्राप्त कर सकता है। निष्काम भावना से कर्म करने वाला व्यक्ति अत्यन्त पुरुषार्थ करता है। जितना हो सकता है, अधिक से अधिक जो पुरुषार्थ हमसे सम्भव है, वह कोई निष्काम भावना से कर्म करने वाला व्यक्ति ही कर सकता है। महर्षि दयानन्द जी ने एक बात और लिखी 'सुशीलता च' शीलता का अर्थ होता है स्वभाव और 'सु' जोड़ दिया तो उसका अच्छा स्वभाव होता

है। निष्काम कर्म करने वाले का स्वभाव सबसे अच्छा है। क्यों ? क्योंकि वह स्वार्थी नहीं होता है। वह अपने प्रयोजन के लिए काम नहीं करता है, वह दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए करता है और जब उसका प्रयोजन ही है दूसरों को सुख पहुँचाना, वह हर कार्य में और व्यवहार में यही देखेगा कैसे मेरे व्यवहार से दूसरों को सुख पहुँचे। दूसरा कैसे मेरे व्यवहार से आनन्द को प्राप्त करे। यही उसका प्रयोजन रहेगा। जो इस प्रयोजन से करेगा, उसके अन्दर अच्छा-अच्छा स्वभाव बढ़ता जायेगा। कोई आदत, कोई उल्टा स्वभाव हो, पहले व्यवहार में गलत रहा हो, अब यदि निष्काम कर्म प्रारम्भ करता है, तो वह सोचता है कि निष्काम कर्म इसलिए कर रहा हूँ कि दूसरों का उपकार हो और मेरे इस व्यवहार से इसको कष्ट हो रहा है तो उस व्यवहार को वह रोकना चाहेगा। जैसे-जैसे निष्काम कर्म को वह बढ़ाता जाएगा, वैसे-वैसे उसके अन्दर यह भावना भी बढ़ती जायेगी, सुशीलता भी बढ़ेगी। तो मन्त्र का सार देखकर समाप्त करते हैं।

‘कुर्वन्-एव-इह कर्माणि’ मन्त्र में तो इतना कहा कि कर्मों को करते हुए इस जन्म में, इस संसार में, इस जीवन में। लेकिन अगली पंक्ति को हम इसके साथ जोड़ेंगे तो निष्काम कर्मों को करते हुए। ‘जिजीविषेच्छतं समाः’ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें। हम निष्काम कर्म को अपने अन्दर बढ़ाएं। हम थोड़ा-बहुत कुछ न कुछ करते हैं। हमारे कर्म में कुछ सकामता होती है, कुछ निष्कामता होती है। मन्त्र से प्रेरणा प्राप्त करके हम अपने अन्दर निष्काम कर्म को और बढ़ाएं। ‘एवं त्वयि नान्यथा-इतो-अस्ति’ एवं जो इस प्रकार, ऐसे जो व्यक्ति करता है, परमात्मा स्वयं उपदेश देते हैं :- त्वयि-तुझमें हे मनुष्य ! जो तू इस प्रकार का कार्य करता है, निष्काम कर्म करता है, तुझ में कर्म लिप्त नहीं होंगे और इसके अतिरिक्त कर्म के लिप्त न होने के लिए और कोई उपाय

नहीं है। कर्म को यदि लिप्त नहीं करना चाहते हैं अर्थात् हम यदि जन्म-मरण चक्र से छूटना चाहते हैं उसके लिए यही उपाय है कि हम निष्काम कर्म को अधिक-अधिक करें। प्रत्येक कर्म को करते समय हम देखें कि यह मैं सकामता से कर रहा हूँ या निष्कामता से कर रहा हूँ? वही कर्म सकाम भी हो सकता है, निष्काम भी हो सकता है। यदि उसी कर्म को हम ईश्वर प्राप्ति के लिए, ईश्वर प्राप्ति को प्रयोजन बनाकर, ईश्वर प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर, करते हैं तो वही कार्य निष्काम कर्म हो जायेगा और उसी कर्म को यदि हम सांसारिक सुख को प्राप्त करने के लिए करते हैं, तो वही कर्म हमारा सकाम कर्म हो जाता है। सकाम कर्म को धीरे-धीरे कम करें, निष्काम कर्म को बढ़ायें। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



तीसरी कक्षा

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

ताँस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

आत्महत्यारे लोग कैसे होते हैं, इस मन्त्र में बताया है। मन्त्र में पहला शब्द बताया 'असुर्या'। 'असु' शब्द का अर्थ होता है प्राण। असुरः = असुषु रतः अर्थात् अपने प्राण के पोषण में ही जो लोग तत्पर रहते हैं उनको कहते हैं असुर। असुर शब्द का एक अर्थ है — न सुरः (देवः) जो देवताओं के विरोधी हैं। अस्यति = क्षिपति देवान् अर्थात् जो देवताओं को कष्ट देता है वह असुर कहलाता है। यहाँ असुर्या शब्द जो है अन्तिम शब्द 'जनाः' का विशेषण है। महर्षि ने ऐसे अन्वय किया है। असुर्य लोग कैसे मनुष्य होते हैं? जो अपने प्राण पोषण में तत्पर रहते हैं। अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को जो दुःख पहुँचाते हैं, कष्ट पहुँचाते हैं, उनको असुर्य शब्द से कहा जाता है। जो ऐसे व्यक्ति, ऐसे मनुष्य जो अपने स्वार्थ के लिए, अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख कष्ट पहुँचाते हैं, वे असुर होते हैं। भर्तृहरि जी ने चार प्रकार का विभाग किया है। श्लोक है —

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये,

सामान्यास्तु परार्थम्—उद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

भर्तृहरि जी कहते हैं सबसे पहले स्तर के व्यक्ति कौन होते हैं? कहते हैं 'एके सत्पुरुषाः' सत्पुरुष की परिभाषा दी गई है, हम इसी से ही देख सकते हैं हम कितने सत्पुरुष हैं या नहीं है। सत्पुरुष वे लोग

होते हैं जो 'परार्थघटकाः' 'घट' धातु का क्या अर्थ है ? चेष्टा करना । 'परार्थघटकाः' दूसरों के लिए जो चेष्टा करते हैं और आगे विशेषण दिया है 'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये' स्वार्थों को छोड़कर जो दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करते हैं, वे हैं 'सत्पुरुष' । अपनी नींद को छोड़कर, अपना भोजन को छोड़कर, अपनी सुख-सुविधाओं को छोड़ कर जो दूसरों के उपकार के लिए, कल्याण के लिए, हित के लिए प्रयत्न करते हैं ऐसे मनुष्यों को कहा जाता है 'सत्पुरुष' । 'परोपकाराय सतां विभूतयः' सत्पुरुष अच्छे लोगों के पास विद्यमान विभूतियाँ = धन, ऐश्वर्य परोपकार के लिए होते हैं । कौन-से व्यक्ति हैं जिसका अपना उपकार कुछ भी नहीं होता है । अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए ? वह जो भी करता है सब दूसरों के लिए ही करता है ? जीवनमुक्त पुरुष । क्योंकि हमारा काम क्या है, कर्तव्य क्या है, प्रयोजन क्या है ? अपने क्लेशों को पूरा नष्ट कर देना । जो व्यक्ति जीवनमुक्त हो गया है उसका सारा काम पूरा हो गया । अब उसका अपने लिए कुछ काम नहीं है । वह रोटी भी खाता है, भोजन भी करता है, वस्त्र भी पहनता है, ये सब परोपकार के लिए ही करता है । वह रोटी खायेगा तब शरीर चलेगा, शरीर चलेगा तो दूसरों का उपकार करेगा । अपना काम तो पूरा हो चुका है उसका । योगदर्शन में कहते हैं — 'कृतार्थं प्रति नष्टमपि—अनष्टं तदन्यसाधारणत्वाद्' कृतार्थ व्यक्ति वही होता है जो जीवनमुक्त होता है । उसके लिए संसार नष्ट हो गया कुछ भी नहीं हैं, इतनी बड़ी दुनिया, इतना बड़ा संसार उसमें से उस को एक भी चीज़ की आवश्यकता नहीं है । किसी की वह आवश्यकता अनुभव नहीं करता है । सब केवल दूसरों के लिए ही होता है । वह है जीवनमुक्त । जो जीवनमुक्त हो गया उसका जीवन तो सौ प्रतिशत केवल दूसरों के लिए होता है । लेकिन उससे कम स्तर पर भी जो लोग होते हैं, वे थोड़ा-थोड़ा दूसरों के लिए करें । दूसरों के लिए करते हैं, तो आप सत्पुरुष की श्रेणी में आते हैं । ये पहले स्तर के व्यक्ति हैं । दूसरे स्तर

के व्यक्ति के लिए कहा — ‘सामान्यास्तु परार्थम्—उद्यमभृतः’ सामान्य व्यक्ति वे होते हैं :— जो दूसरों के लिए उद्यम करते हैं, प्रयत्न करते हैं, कैसे करते हैं ? तो कहते हैं — ‘स्वार्थ—अविरोधेन ये’ अपने स्वार्थ को बिना छोड़े दूसरों के उपकार के लिए जो प्रयोग करते हैं, पहले अपने स्वार्थ पूरा कर लेते हैं, बच जाये तो दूसरों को देते हैं । सत्पुरुष में और सामान्य मनुष्य में अन्तर समझ में आया ? किसी के पास दो मोबाईल हैं कोई एक माँगता है, तो वह दे देता है यह सामान्य मनुष्य है और एक ही मोबाईल है तो नहीं देगा । यह अपने में देखिए । अपने पास कल्पना करिये, एक ही मोबाईल है और कोई व्यक्ति माँगता है, तब आप दे देंगे तो सत्पुरुष हैं और नहीं दिया तो आप सामान्य मनुष्य में आ जाएंगे । यह नियम है कि जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद, अपनी सुख सुविधाओं को पूरा करने के बाद देता है, तो वह सामान्य मनुष्य है । तीसरे स्तर के कहते हैं — ‘तेऽमी मानुषराक्षसा परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये’ मनुष्य शरीर को धारण करते हुये भी राक्षस हैं, वे असुर हैं, वे पापी हैं कौन व्यक्ति ? कहते हैं ‘स्वार्थाय निघ्नन्ति ये’ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए, दूसरों को दुःख, कष्ट परेशान करने वाले जो होते हैं । महर्षि दयानन्द जी इसी मन्त्र की व्याख्या में इसी शब्द के ऊपर लिखते हैं :— राक्षस, दैत्य, पिशाच वे लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए पाप-आचरण करने वाले हैं । ऐसे व्यक्ति को हम असुर कहते हैं और एक चौथे स्तर का व्यक्ति होता है । वह कैसा होता है ? स्वार्थ न होने पर भी दूसरों को हानि पहुँचाता है । जैसे एक व्यक्ति मोबाईल चुराकर ले लेता है, स्वयं प्रयोग करता है उसका । तो वह तीसरे स्तर का है, असुर हो गया, राक्षस हो गया, दैत्य, पिशाच और चौथे स्तर का वह व्यक्ति है जो किसी से द्वेष करता है उसके मोबाईल को लिया पानी में डुबो दिया अथवा मिट्टी में गाढ़ दिया । न मैं प्रयोग करूँगा और न आप करोगे । स्वयं भी लाभ नहीं उठाना दूसरों को भी लाभ उठाने

नहीं देना । भले स्वयं को कुछ भी लाभ न हो, फिर भी दूसरे को हानि पहुँचाना है, यह चौथे स्तर का व्यक्ति है । चौथे स्तर के व्यक्ति को तो भर्तृहरि जी कहते हैं, ऐसे व्यक्ति को क्या नाम दें ? तीसरे स्तर वाले व्यक्ति को ही उन्होंने कह दिया कि राक्षस है और चौथे स्तर वाले के लिए तो कोई नाम भी मैं नहीं दे सकता हूँ, यह इतना दुष्ट व्यक्ति है । ऐसे व्यक्ति भी होते हैं । महर्षि दयानन्द जी ने इसमें लिखा है कि असुर, राक्षस, दैत्य, पिशाच वे लोग होते हैं जो अपने प्राण-पोषण में तत्पर होते हैं । स्वयं के सुख-सुविधा-साधन के लिए दूसरों को कष्ट, बाधा पहुँचाते हैं । ऐसे व्यक्ति को असुर कहते हैं । असुर के लिए आगे कहा कि ‘**आत्महनो जनाः**’ आत्महन का मतलब होता है आत्मा का हनन । महर्षि दयानन्द जी ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये लिखा है :— आत्म हत्यारे लोग कैसे होते हैं ? यह इस मन्त्र का शीर्षक दिया है । संसार में एक शब्द प्रचलित है — ‘आत्महत्या’ । संसार में आत्महत्या का क्या मतलब होता है ? अपने शरीर को स्वयं नष्ट करना । खाली नष्ट करना नहीं स्वयं नष्ट करना । अपने शरीर को स्वयं नष्ट कर देते हैं तो उसको आत्महत्या कहते हैं । लेकिन यह रूढ़ अर्थ है, प्रचलित हो गया । वास्तव में आत्मा की तो हत्या हो नहीं सकती । आत्मा तो नित्य है, सदा रहने वाली है । लोक में प्रचलित आत्म-हत्या का अर्थ स्वयं ही अपने शरीर की हत्या = नाश करना है । आत्मा = स्वयं, हत्या = शरीर को छोड़ना, नाश करना, आत्मा की हत्या अर्थ नहीं है । आत्मा की हत्या सम्भव नहीं है । फिर यहाँ लिखा ‘**आत्महनो जनाः**’ तो इसलिए जैसे कोई व्याकरण पढ़ता है शब्द का अर्थ तो समझ में आ जायेगा लेकिन भाव को समझने के लिए, सिद्धान्त को समझने के लिए हमें उपाङ्ग पढ़ना पड़ता है, दर्शन शास्त्र पढ़ना पड़ता है, जैसे हमारा हाथ काम करने के लिए बहुत सहायक है, लेकिन यदि आपके हाथ में उँगली नहीं है तो आप कितना काम कर सकते हैं ? ये उँगलियाँ भी हमारे लिए बहुत उपयोगी बनती हैं । इनके बिना

हम काम ही नहीं कर सकते हैं। ऐसे ही जहाँ व्याकरण आदि शास्त्र हमको शब्द का अर्थ समझाने में बहुत सहायता करते हैं, वहाँ दर्शन शास्त्र इसके सिद्धान्तों का बोध कराने के लिए बहुत सहायक बनते हैं। तो “आत्मा की हत्या करना” इस का अर्थ महर्षि दयानन्द जी ने किया आत्मस्थ ज्ञान के विपरीत आचरण करना। आप लोगों ने और एक श्लोक सुना होगा।

‘मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥’

मन में जो है वाणी में भी वही है और कर्म में भी वही है — ऐसे जो व्यक्ति होते हैं, उनको महात्मा कहते हैं। जैसा मन में है वैसा वाणी में बोलना, और जैसे वाणी में बोला, जैसा मन में है वैसा ही आचरण करना। यह महात्मा लोगों का व्यवहार है। आरम्भ काल में आर्य समाज का बहुत अधिक प्रचार-प्रसार हुआ। उसका कारण यही था कि सिद्धान्त को प्रचार करने वाले कथनी और करनी में एक थे। वे जैसा कहते थे वैसा ही करते थे। आज भी हम जितने लोग इस ब्रह्म विद्या को पढ़ रहे हैं, सुन रहे हैं, जान रहे हैं, हमारा यदि आचरण विद्या के अनुकूल हो जाए, जिन शास्त्रों को हम पढ़ते हैं उनके अनुकूल हो जाए तो आज भी ब्रह्मविद्या अपनी महत्ता को स्थापित कर सकती है। आचरण करने की आवश्यकता है। आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि आचरण करते हैं तो यह विद्या अपने आप में महान् है, यह विद्या अपने आप शीर्ष स्थान को रखती है अपने आप प्रसारित हो जायेगी। इसको लोग कितना अपने जीवन में अपनाते हैं? जो मन में अलग जानते हैं, वाणी से अलग बोलते हैं और शरीर से अलग आचरण करते हैं, इनको कहा आत्म-हत्यारे। शरीर से जो आचरण करते हैं, उससे विपरीत वाणी से बोलते हैं और उससे विपरीत मन में सोचते हैं। उसको आत्म-हत्या कहते हैं। हम भी अपने जीवन में देखें। जहाँ-जहाँ जितना-जितना अंश हमारे जीवन में कथनी करनी में अन्तर है, मन में जानते हुये भी हम गलत बोल देते हैं, गलत कर लेते हैं; उतने काल के लिए हमने आत्म-हत्या की, उतने अंश

में हमने आत्म—हत्या की। जानता है व्यक्ति यह गलत है फिर भी कर ही लेता है। बहुत सारे कारण हैं इसमें। योग दर्शन में इसकी विस्तृत चर्चा है कि जानते हुये भी व्यक्ति गलत क्यों करता है ? उसी व्यक्ति को यहाँ आत्म—हत्यारा कहा गया है। इन शास्त्रों को पढ़ते हुये हम अपने जीवन के प्रति जागरूक हो जाएं कि मैं आत्म—हत्यारा न बनूँ। जैसे एक व्यक्ति शरीर को नष्ट कर देता है, आत्म—हत्या करता है बहुत बड़ा पाप है। वेद में कहीं विधान नहीं है कि आप अपने शरीर को स्वयं नष्ट कर सकते हैं। इसका अधिक दण्ड मिलता है। कल्पना करिए कोई व्यक्ति अपराधी बनकर जेल में जाता है, अब जेल में बहुत कष्ट होता है तो जेल तोड़कर भागेगा। भाग जायेगा तो उसको सरकार छोड़ देगी क्या ? सरकार का नियम क्या है ? जेल तोड़कर भागने वाले को छोड़ देगी क्या ? नहीं ! उसको पकड़ती है और पहले यदि उसे दो साल का दण्ड था, अब पकड़े जाने के बाद फिर और अधिक दण्ड मिलेगा और दो साल बढ़ जाएगा। अब सरकार किसी को पकड़ भी पाती है और किसी को नहीं भी पकड़ पाती है। लेकिन परमात्मा की व्यवस्था से तो बाहर जा नहीं सकते हैं। आपको शरीर मिला है अपने कर्म का फल है, आपका प्रारब्ध है, आपका भाग्य है, आपको इसका भोग करना है। दुःख हो रहा है तो भी भोग करना है, सुख भी तो होता है। कोई कितनी भी दयनीय स्थिति में हो उसको भी उस स्थिति में कुछ न कुछ सुख होता है। यह हमारा कर्म का फल है, चाहे पूर्व जन्म का हो, चाहे इसी जन्म का हो। कर्म का फल भोगें और कोई अन्याय करके हमको दुःखी कर दे, कष्ट दे, पीड़ित कर दे, अथवा हाथ—पैर ही तोड़ दे, अब जीना कठिन हो रहा है। कोई बात नहीं। दुःख हो रहा है उसको हम भोग लेंगे। हमारे साथ अन्याय हुआ तो फिर परमात्मा व्यवस्था करेगा। परमात्मा की व्यवस्था में कोई भी आत्म हत्या न करे। जैसे शरीर को नष्ट करने को आत्म—हत्या संसार में कहते हैं ऐसे ही परमात्मा का यह निर्देश है हम आत्मस्थ

ज्ञान के विपरीत न करें। सच बोलना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए। यह हम बचपन से ही सुनते हैं, लेकिन आलम्बन आ जाये तो हम बोल ही देते हैं, रहा नहीं जाता है। लगता है सच बोल दूँ तो अभी मर जाऊँ। बोलने से मरेंगे नहीं लेकिन हमें ऐसे भय लगता है, ऐसी हानियाँ दिखती हैं। किस-किस स्थिति में व्यक्ति झूठ बोल देता है? कहीं अपमान का भय होता है, कहीं कुछ हानि हो जाने की स्थिति है, कहीं धन का नुकसान हो, कहीं और कुछ है, कुछ लोग अनेक कारणों से झूठ बोल देते हैं। लेकिन सच बोलने से हमारी कोई हानि हो जायेगी? ऐसी स्थिति नहीं है, 'अन्ततोगत्वा' सच बोलने वाले का लाभ ही होता है, हानि नहीं होती है। सच बोलना, झूठ बोलना यह तो एक उपलक्षण है। ऐसे ही हम जीवन में बहुत सारे कार्य करते हैं, बहुत सारे व्यवहार करते हैं, जिसको हम अन्दर से बुरा मानते हैं। कोई व्यक्ति हमसे झूठ बोलता है तो हमें कैसे लगता है? बुरा। इसका मतलब है, हमारी जो आन्तरिक प्रीति है, वह सत्य के प्रति है। सत्य बोलना ही हम चाहते हैं, लेकिन हम किसी स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्या के कारण सच को छोड़कर झूठ का सहारा लेते हैं। जैसे झूठ का सहारा लेते हैं, वैसे ही सब जगह लागू करना है।

महर्षि दयानन्द जी व्यवहार-भानु में एक बहुत अच्छी बात लिखते हैं, प्रश्नोत्तर शैली में व्यवहारभानु में लिखा है। पूज्य स्वामी सत्यपति जी कहते हैं कि यह जो व्यवहारभानु पुस्तक है, यह मोक्ष तक पहुँचाने का ग्रन्थ है। ऐसा नहीं है कि खाली सामान्य विद्यार्थियों के लिए, सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं सब के लिए है, मोक्ष तक पहुँचाने वाला ग्रन्थ है। उसमें एक प्रश्न उठाया कि कोई व्यक्ति विद्या पढ़ता है, जानता है, लेकिन किसी भी भय आदि कारण से उसको आचरण नहीं कर पाता है। 'आदि' लिख दिया कोई भी कारण हो, किसी भी कारण से, वह उसका आचरण नहीं कर पाता है, तो उसको विद्या का फल प्राप्त होगा या नहीं? तो महर्षि दयानन्द जी ने लिखा — कदापि नहीं। महर्षि दयानन्द जी ने एक

उपमा भी दी है कि यह व्यक्ति चोर के समान है। उन्होंने बताया जैसे चोर जानता है कि चोरी करना बुरा कर्म है, अच्छा नहीं है और साहूकारी करना अच्छा है फिर भी वह जानते हुये भी अच्छा नहीं कर रहा है और जानते हुये भी बुराई को छोड़ नहीं रहा है। जैसे चोर जानता है, अच्छा क्या है, बुरा क्या है, फिर भी अच्छाई को अपनाता नहीं, बुराई को छोड़ता नहीं है। ऐसे ही जो व्यक्ति अच्छा जानता है और करता नहीं है, वह चोर के समान है; ऐसा महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है। उसी को यहाँ कह रहे हैं कि आत्महत्या। 'आत्महनो जनाः' ऐसे व्यक्ति को आत्म हत्यारा कहते हैं। सब जगह लागू होगा, प्रातः जागरण से लेकर, उपासना से लेकर, व्यायाम से लेकर, ध्यान से लेकर यज्ञ से लेकर, दान, परोपकार सब कार्य जिन-जिन कार्यों को हम जानते हैं यह अच्छा है करने योग्य है फिर भी हम नहीं करते हैं; वहाँ-वहाँ 'आत्महनो जनाः' आत्मा के हत्यारे। हम स्वयं का हनन स्वयं कर रहे हैं, पीछे भी बात आयी थी कि हम अपनी हत्या स्वयं कर रहे हैं। इसी बात को यहीं पर कहते हैं। आत्मा स्वयं की हत्या ऐसे ही करता है जानबूझकर। माता-पिता, गुरु-आचार्य, राष्ट्र-समाज, परम्परा ये सब हमारी उन्नति में सहायक हैं और हमारी अवनति में कारण भी बनते हैं। लेकिन ये सब होते हुये आत्मा स्वतन्त्र कर्ता है, वह स्वयं सबसे बड़ा मुख्य कारण बनता है, अपनी उन्नति के लिए, अपनी अवनति के लिए। अपने जीवन के साथ जोड़कर देखना है। यह उपनिषद् शास्त्र है। यह हमको परमात्मा के समीप करता है। कब करेगा ? जब हम आत्म-हत्या से बचेंगे। आत्महत्या करने वाला परमात्मा के समीप नहीं जा सकता है। आत्महत्या को करने वाला कहाँ जायेगा ? इसी को यहाँ बता रहे हैं कि 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' कौन-कौन से कार्य अच्छे हैं और कौन-कौन से कार्य बुरे हैं ? इसका विवेचन अलग-अलग शास्त्र में किया गया है। योगदर्शन में जो यम और नियम

हैं, वे अच्छे कर्म हैं और उनके विपरीत जो वितर्क आते हैं अर्थात् यम-नियम के विपरीत हैं, वे सब आत्महत्या के उपाय हैं। योगदर्शन के 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' सूत्र के भाष्य में बहुत अच्छा चित्रण किया है महर्षि व्यास जी ने। उन्होंने एक प्रसङ्ग उठाया कि जो योगाभ्यासी, ब्राह्मण व्यक्ति योगाभ्यास करता है उसके मन में ऐसे विचार आते हैं। क्या विचार आते हैं ? 'अनुपकारिणं हनिष्यामि, अनृतं वक्ष्यामि...' जो मेरा अनुपकार करता है अर्थात् अपकार करता है, मुझे हानि पहुँचाता है उसको मार डालूँगा, यह विचार ब्राह्मण व्यक्ति के मन में भी आ सकता है। जब व्यक्ति प्रारम्भिक योगाभ्यासी है, यह एक क्रियात्मक मनोविज्ञान है, वास्तव में यदि योगदर्शन के सिद्धान्तों को हम जीवन में अपनाते हैं, बिल्कुल ज्यों का त्यों मिलेगा। जो लिखा है व्यास जी ने आपको अपने जीवन में वैसे ही मिलेगा। जो हमारा अपकार करता है, हानि पहुँचाता है, कुछ भी हानि पहुँचाये, तो देखिए मन में कैसी भावना आती है ? मार दूँ या मर जाऊँ। बिल्कुल व्यक्ति छटपटा जाता है। यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसी बात को वहाँ चित्रण किया। 'अनुपकारिणं-हनिष्यामि, अनृतं वक्ष्यामि' यह बड़ा दुष्ट आदमी है, इसको तो झूठ बोलना चाहिए, इसको तो कैसे भी परास्त करना चाहिए, इसको कैसे भी दबाना चाहिए, भले झूठ बोलना पड़े, बोलूँगा। ऐसा विचार आता है। इसका सामान तो चोरी करके ले जाना चाहिए, कोई पाप नहीं लगेगा। मन में ऐसा विचार आता है। जब कोई हमारा अपकार करता है फिर वहाँ पर बताया :- जैसे-तैसे तो मैं योग की शरण में आया हूँ 'घोरेषु संसार-अङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः' संसार रूपी अङ्गार में झुलसता हुआ जैसे-तैसे तो मैं इस योग की शरण में आया हूँ। बड़ी मुश्किल से इस योग मार्ग को अपनाया है। राग-द्वेष को छोड़कर मैं इस योग की शरण में आया हूँ, अब फिर उसी राग-द्वेष में, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को छोड़कर

वितर्क में फँसना ऐसा है जैसे कुत्ता अपनी उल्टी को चाट लेता है। ऐसे ही हम ने गृहत्याग किया, इस अध्यात्म मार्ग को अपनाया, फिर भी हमारे मन में दुबारा ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह की भावना आती है तो समझना है, यह आत्म-हत्या है। इसी को न्यायदर्शन में थोड़ा विभाग करके बताया। बहुत महत्व पूर्ण है यह हमारे जीवन में घटता रहता है। न्यायदर्शन में कहा कि शरीर से, वाणी से, मन से हम पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और शरीर से, वाणी से, मन से शुभ कर्म में भी प्रवृत्त होते हैं। शरीर से उन्होंने तीन पाप बताये — हिंसा, चोरी, व्यभिचार। हिंसा करना यह बहुत बड़ा पाप है, योग में प्रवेश ही नहीं होगा। ये उपनिषद् शास्त्र, वेद, भगवान, ईश्वर सीधा हमको उपदेश देते हैं हिंसा नहीं करनी है। माँसाहार मनुष्यों के लिए निषेध है। माँसाहार करने में आठ व्यक्तियों को पाप लगता है। केवल करने वाला ही नहीं है, सबसे पहले लिखा 'अनुमन्ता' जो अनुमति देता है, सबसे पहले उसको पाप लगता है, प्राणी को जो मारता/हत्या करता है और मरने के बाद उसके मांस को जो काटता है, जो उसको बेचता है, खरीदता है, बाजार से घर तक लाता है, पकाता है, खाता है, सारे आठों व्यक्तियों को दोष लगता है। सब ये आत्महत्यारे हैं। अपने सुख के लिए उन्होंने पशुओं को मारा। यह क्या है? आत्महत्या है। अपने स्वार्थ के लिए, जिह्वा के थोड़ी देर के लिए सुख हेतु, गले से नीचे जाए तो कोई स्वाद बाद में नहीं मिलता है। केवल जिह्वा में जब तक है तब-तक स्वाद है और उतने काल के स्वाद के लिए एक प्राणी को मार देते हैं। यह हिंसा है, ये आत्महत्यारे हैं, इन्हीं को असुर कहा है। 'चोरी' दूसरा पाप है। चोरी करना, शरीर से किसी की वस्तु को उठाकर ले लेना। बिना आज्ञा से, बिना अनुमति के, बिना शास्त्र नियम के ले लेना चोरी है, वह बहुत बड़ा पाप है, शरीर से पाप है। व्यभिचार करना समाज में भी बहुत बड़ा दोष माना जाता है। ये हिंसा, चोरी, व्यभिचार जो करते हैं। दूसरा आता है — 'वाचनिक

स्तर' । वाचनिक स्तर पर चार पाप बताये । झूठ बोलना, कठोर बोलना, निन्दा-चुगली करना, असम्बद्ध प्रलाप = व्यर्थ वार्तालाप करना (फालतू बकवास जिसको कहते हैं) ये सब आत्म-हत्यारे हैं । झूठ बोला मतलब आत्महत्या हुई । जो अधिकारी व्यक्ति है वह तो कठोर बोल भी सकता है, माता-पिता, गुरु-आचार्य यदि विद्यार्थी, पुत्र-पुत्रियों को ताड़ना न करें तो दोष होगा । जितना लाड़न करेंगे, उतना बिगाड़ हो जाता है और जितना ताड़न करेंगे उनका सुधार होता है । अनधिकार रूप में हम जहाँ कठोर बोलते हैं, जिसके ऊपर हमारा कोई अधिकार नहीं है; उनके साथ यदि हम कठोर व्यवहार करते हैं, कठोर वाणी बोलते हैं तो उस समय आत्महत्या की स्थिति है अर्थात् अपने आवेग में आकर, आवेश में आकर यदि हम बोलते हैं, यह पाप में आता है, यह आत्महत्या है । ऐसे ही निन्दा-चुगली करना भी पाप में आता है । इसके दोष उसको बताना; उसके दोष इसको बताना यह पाप में आता है । ऐसे नहीं करना चाहिए । हम कभी किसी निर्णय के लिए, सुधार के लिए, कल्याण के लिए विचार करते हैं, आलोचना करते हैं, चर्चा करते हैं, वहाँ तक सीमित है । लेकिन हम यदि दूसरों को केवल नीचा दिखाने के लिए निन्दा चुगली करते हैं वह पाप के अन्तर्गत आता है । ऐसे ही अनावश्यक वार्तालाप करना, यह भी पाप में आता है । मन से तीन पाप बताए । एक बताया 'स्पृहा' । स्पृहा का अर्थ होता है लोभ, अनुचित उपाय से अधिक प्राप्त करने की इच्छा । पहले मन्त्र की व्याख्या में बता दिया था — 'मा गृधः' लोभ नहीं करना है । दूसरा मानसिक पाप 'द्रोह' । द्रोह का अर्थ होता है — दूसरे को कष्ट पहुँचाने की इच्छा/परहानि की भावना । अब कोई शरीर से हिंसा नहीं कर रहा है, लेकिन उसके अन्दर मन में बहुत ऐसे विचार आते हैं । इस व्यक्ति का नुकसान हो, यह दुःखी हो जाए, इसका हाथ-पैर टूट जाए, इसको परेशानी हो, ऐसा विचार यदि मन में है तो वह द्रोह का विचार है । वह भी खराब है । और तीसरा मानसिक पाप नास्तिकता । ईश्वर को नहीं मानना, आत्मा को नहीं मानना, पुनर्जन्म को नहीं मानना, कर्म फल को

नहीं मानना । यह सब क्या है ? नास्तिकता है । यह आत्महत्या है । इसी को अन्य शास्त्रों में ब्रह्म-हत्या भी कहते हैं । ब्रह्म-हत्या का अर्थ होता है नास्तिकता । हमारे अन्दर नास्तिकता उत्पन्न न हो । ये सब आत्म-हत्या के लक्षण हैं । ऐसे आत्म-हत्या करने वाले लोग जो होते हैं उनको असुर कहा गया है । अब तो, आत्म-हत्या के बारे में इतना बता दिया । आगे थोड़ा और देखते हैं — ‘ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः’ कुछ लोक, लोक का अर्थ होता है स्थान, लोक दर्शने धातु है । ऐसे कुछ स्थान होते हैं, जो ‘अन्धेन’ अन्धकार से युक्त हैं । तमसा भी रखा है और अन्धकार भी रखा है दोनों का अर्थ एक जैसा है । शास्त्र में ऐसे नियम हैं, दो यदि समान अर्थक आते हैं, तो उनको विशेष्य, विशेषण कर देते हैं । तो ‘अन्धेन तमसा’ का अर्थ होता है घनघोर अन्धकार । सामान्य अन्धकार की बात नहीं है, घन-घोर अन्धकार । घन-घोर अन्धकार से आवृत्त कुछ लोक होते हैं । लोक का मतलब जैसे मैंने कहा स्थान । उत्पत्ति स्थान भी ले सकते हैं । महर्षि दयानन्द जी ने इसका अर्थ योनियाँ किया है, ऐसी कुछ योनियाँ हैं, जहाँ पर अज्ञान-गहरा है । अन्य योनियों में आप देखेंगे अज्ञानता भरी हुई है । कैसी-कैसी अज्ञानता में वे प्राणी अपने जीवन में दुःखी हो रहे हैं । छोटा सा उदाहरण दे देता हूँ । कल्पना करिए आपकी कुटिया में कोई कीड़ा घुस गया । अब आपने खिड़की बन्द कर रखी है । अब खिड़की में काँच लगा हुआ है । वह वहीं जाकर टक्कर मारता है । आप दरवाजा खोलेंगे, तो दरवाजे की ओर नहीं जाएगा । वहीं टक्कर मारता रहता है । क्यों ? ज्ञान ही नहीं है उसको । ऐसी-ऐसी भयंकर अन्धकार योनियाँ संसार में विद्यमान हैं, उपनिषत्कार यही कहते हैं कि ऐसी-ऐसी अन्धकार योनियाँ संसार में भरी पड़ी हैं । एक-एक योनि के बारे में विचार करिए, कितनी सारी योनियाँ हैं । वैज्ञानिकों ने खोज की है कि पेड़-पौधे और जितने प्राणी हैं, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग इन सबकी संख्या जो है, ‘संख्या’ मतलब प्रकार अस्सी लाख से अधिक है । अस्सी

लाख प्रकार प्राणी और पौधे विद्यमान हैं हमारी धरती में। जितना वैज्ञानिकों ने ढूँढ लिया है। उसमें समुद्र के अन्दर भी जितने जीव हैं, जितने पौधे हैं, वे सब भी हैं, सबको मिलाकर उन्होंने कहा कि अस्सी लाख से अधिक प्रकार के हैं। इतने प्रकार की योनियाँ अस्सी लाख नहीं, अस्सी लाख प्रकार योनियाँ हैं और उनमें से एक प्रकार की योनि है मनुष्य योनि। केवल-केवल मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जहाँ हम स्वतन्त्र पुरुषार्थ कर सकते हैं, इसकी विशेषता है। आगे उपनिषद् में पढ़ेंगे, इस मनुष्य योनि में, मनुष्य शरीर का जो ढाँचा है, इसको देवता लोग भी पसन्द करते हैं इसमें रहने के लिए। ऐसा दिव्य शरीर है यह मनुष्य। बाकी सब ऐसे ही हैं। बाकी सब इतनी योनियाँ हैं, ये योनियाँ 'ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः' और उसके लिए आगे कह दिया — 'ताँस्ते प्रेत्य-अभिगच्छन्ति' मैंने कहा था कि वेद में और उपनिषद् में थोड़ा-थोड़ा अन्तर हैं, तो यहाँ 'अभिगच्छन्ति' शब्द है और वेद में 'अपिगच्छन्ति' अपि शब्द है। अभि और अपि इतना ही अन्तर है। 'तान्'। तान् का अर्थ क्या होता है? तान् का अर्थ उनको। उनको मतलब किनको? उन लोकों को। कौन से लोकों को? जो 'अन्धेन तमसावृताः' घन-घोर अज्ञान अन्धकार से ढके हुये जो लोक, संसार, योनियाँ, जीवन हैं उनको प्राप्त होते हैं। 'ते प्रेत्य-अभिगच्छन्ति' वे लोग 'प्रेत्य' प्र + इत्य, 'प्र' का अर्थ होता है 'प्रकर्षण', 'इत्य' का अर्थ ('इण गतौ' धातु है) जा करके। 'जा करके' मतलब अच्छे प्रकार से जब जाते हैं। अच्छे प्रकार से जाकर मतलब, रोज़ तो हम कहीं न कहीं जाते हैं लेकिन जब इस शरीर में दुबारा नहीं आते हैं अर्थात् प्रेत्य का अर्थ होता है मरना। न्यायदर्शन में एक प्रमेय माना है 'प्रेत्यभाव'। मरकर होना। मर जाना अर्थात् मरने के बाद, मरने के बाद क्या होता है? 'ताँस्ते प्रेत्य-अभिगच्छन्ति' वे लोग मरने के बाद उन लोकों को प्राप्त होते हैं, उन योनियों को प्राप्त होते हैं, जो घन-घोर अन्धकार में ढके हुये हैं। कौन लोग प्राप्त होते हैं? कहते हैं — 'ये के चात्महनो

जनाः जो लोग आत्महत्या करते हैं, वे लोग उन योनियों में जाते हैं। अब देखो ! हम भी यदि आत्महत्या करते हैं, हमारा भी नम्बर उस में लगेगा। आत्महत्या छोड़नी है। इस अध्यात्म मार्ग में आएँ तो सबसे पहला काम यह है। एक बहुत बड़े सन्त हुए हैं, उनसे किसी ने जाकर कहा कि मुझे कुछ उपदेश दीजिए। महात्मा जी ने कहा कि एक उपदेश दूँगा और उसका आप पालन करना। जब वह पूरा हो जाए, तब दोबारा उपदेश के लिए आना, उससे पहले दोबारा उपदेश के लिए नहीं आना। उन्होंने कहा — जो आप जानते हैं यह बुरा है, गलत है, उस कार्य को आज से नहीं करना है। अब इसको पालन करो, जब पूरा हो जाए तब दोबारा उपदेश के लिए आना। यही बात यहाँ कहते हैं कि आत्म-हत्या आज से ही बन्द करनी है, जितनी आत्महत्या करते हैं हम सब, वह सब आपको मैंने बताया, चित्रण किया। जहाँ-जहाँ हम आत्महत्या करते हैं, उन सबको बन्द करना है। उपनिषद् पढ़ने का लाभ यही है, उपनिषद् का एक अर्थ होता है 'रहस्यमयी विद्या'। इन रहस्यों को पढ़कर हम अपने जीवन में लायेंगे तो जो हमने विचार किया था वहाँ तक पहुँच जायेंगे। कहते हैं '**ये के चात्महनो जनाः**।' जो लोग आत्म-हत्या करते हैं, ऐसे लोग 'तान्' (तान् का अर्थ) उन लोकों को (किन लोकों को) '**अन्धेन तमसावृत्ताः**।' अन्धकार से, घन-घोर अन्धकार से ढके हुये, छुपे हुये, जो संसार है, जो योनियाँ हैं, उनको ये लोग प्राप्त होते हैं। और कैसे आत्म-हत्यारे लोग हैं ? उसके लिए '**असुर्या नाम**।' एक तो 'नाम' हम जानते हैं कि आपका क्या 'नाम' है ? उसके लिए नाम आता है वह एक अलग 'नाम' शब्द है, लेकिन यहाँ जो 'नाम' शब्द है, वह इस अर्थ में नहीं है। 'नाम' एक निपात भी होता है। प्रसिद्ध अर्थ में निपात 'नाम' शब्द का प्रयोग होता है '**असुर्या नाम**।' असुर नाम से वे प्रसिद्ध होते हैं। कौन प्रसिद्ध होते हैं ? जो आत्महत्या अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान के विपरीत आचरण करने वाले। थोड़ा बहुत तो हमारे अन्दर भी है। सामान्य रूप से हम ऐसे देखते हैं, जिनके जीवन में यह अधिक मात्रा में है, अधिक

मतलब ? आजकल के गणित के हिसाब से हम यदि विचार करें तो यदि पचास प्रतिशत से कोई अधिक ऐसे कार्य करता है, तो इस वर्ग में आयेगा। थोड़ा बहुत तो सबके अन्दर होगा। जब तक हमारी समाधि नहीं लगेगी, योग की सिद्धि नहीं होगी, पूर्ण विवेक—वैराग्य नहीं हुआ है, तब-तक हमारे अन्दर भी दोष रहता है, लेकिन इतने मात्र से कोई थोड़ा-सा कर दिया, तब उसको उस वर्ग में नहीं करेंगे, लेकिन जिसके जीवन में यह बड़े स्तर पर है, जिसके जीवन में यह अधिक मात्रा में है और जो उसको अच्छा मानता है, उस व्यक्ति को कहेंगे आत्महत्यारा और वही व्यक्ति असुर के नाम से प्रसिद्ध होता है। ‘असुर्या नाम ते लोका’ असुर्या नाम को इसके साथ जोड़ेंगे, आत्महनो जनाः। जो आत्म-हत्या करते हैं, ऐसे लोग असुर के नाम से प्रसिद्ध होते हैं और वे लोग क्या होते हैं ? मरने के बाद उस लोक को प्राप्त होते हैं।

यह हमारा वैदिक सिद्धान्त है। पाप कर्म करने से दुःख मिलता है और पुण्य कर्म करने से सुख मिलता है। योगदर्शन में भी बताया है। ‘ते ह्लादपरितापफलाः पुण्य-अपुण्य हेतुत्वात्’ ह्लाद का अर्थ प्रसन्नता। ह्लाद का अर्थ ‘सुख’। सुख और प्रसन्नता मिलने में कौन कारण बनते हैं ? तो कह दिया पुण्य कर्म। दो प्रकार कर्म हैं, पुण्य कर्म और पाप कर्म। पाप कर्म करेंगे तो दुःख मिलेगा। परिताप का अर्थ ‘सब ओर से कष्ट, पीड़ा’। अब देखिए इस उपनिषद् में भी और सभी दर्शनों में लगभग यही सिद्धान्त चलता है। अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है, बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है। पहले कर्म करते हैं, बाद में फल मिलता है, पहले फल नहीं मिलता और जितना कर्म है उतना फल है यह एक सिद्धान्त आपने सुना होगा। लेकिन इसको समझना है। जितना हम कर्म करते हैं उतना फल मिलता है। इसका मतलब क्या है ? किसी ने सौ रुपये की चोरी की तो दण्ड कितना मिलेगा, सौ रुपये ? कोई एक लाख रूपए चोरी करके चला गया, अब पुलिस ने उसको पकड़ लिया, तो पुलिस

एक लाख रूपए ले जाती है, जिसका है उसको वापस कर देती है, लेकिन चोर को छोड़ देगी क्या कि आपने एक लाख लिया था, एक लाख मिल गया आप जाओ, छोड़ेगी नहीं। दण्ड मिलता है। तो एक लाख का एक लाख दण्ड नहीं होता है, उससे ज्यादा होता है। हम जो भी कर्म करते हैं, चाहे पाप कर्म करते हैं, पुण्य कर्म करते हैं, उसका कई गुना हो कर फल मिलता है। आप सौ रूपए दान करेंगे, तो परमात्मा आपको सौ रूपए देगा, ऐसा नहीं है, कई गुना करके देगा। ऐसे ही आपने सौ रूपए की चोरी की, तो सौ रूपए परमात्मा दण्ड नहीं देगा। कई गुना करके देगा। कैसे पता चलता है? कहीं लिखा है क्या? लोग पूछ भी लेते हैं। आपको कैसे पता है? पूछते हैं वेद में प्रमाण है क्या? भयंकर दण्ड देता है, यह लिखा है और उसके साथ एक अनुमान प्रमाण भी है, आपको भी जच जाये तो आप भी मान लीजिए। मनुष्य योनि में कितने लोग हैं? आठ अरब लगभग हैं, आठ सौ करोड़ और अन्य योनि में कितने हैं? तो अब यदि जितना कर्म करे, उतना ही फल होगा, तो मनुष्य जितने है, उनमें आधे लोग यदि मान लो पाप और आधे लोग पुण्य करें तो भी इसके आधे होने चाहिए अन्य प्राणी। मनुष्य जन्म में व्यक्ति इतना कर्म कर लेता है, इतना पाप कर लेता है कि उसका फल भोगने के लिए बार-बार उसको जन्म लेना पड़ता है। इसलिए ये सब योनियाँ हैं। ऐसे ही उपनिषद् में आगे भी बतायेंगे। वे कहेंगे कि भाई एक बार व्यक्ति ऐसे पाप कर देता है उसको बार-बार कीड़े मकोड़े बनना पड़ता है, एक बार बनने से उसका फल पूरा नहीं होगा। अनेक बार जन्म लेकर उस कर्म का फल भोगना पड़ता है, जो भी कर्म करते हैं। और भी एक लौकिक उदाहरण से समझ सकते हैं। आपके पास एक बोरी चना है, अब एक बोरी चना खेत में डालते हैं, तो आप जब फसल काटते हैं, तो क्या एक बोरी मिलती है? कितनी बोरी मिलेगी? बहुत सारी मिलेंगी, ऐसे ही चने के स्थान पर आप दूसरी चीज डालेंगे, तो भी वैसा ही है। जितना

हम बोते हैं, उससे कई गुना मिलता है। इसलिए तो खेती करते हैं, यदि जितना डालें, उतना ही मिले अर्थात् एक बोरी चना डाला और एक बोरी ही मिले तो कौन खेती करेगा ? कोई भी नहीं करेगा। पहले से ही उतना है तो क्यों करे ? यह मनुष्य जीवन ऐसे मिला है, कि हम इसमें पुरुषार्थ करें।

मन्त्र में एक शब्द है 'प्रेत्य'। जो कहते हैं कर्म करते हैं तो फल दिखता ही नहीं है। सभी दर्शनों-मीमांसा, न्याय आदि में यह चर्चा आयी है कि भाई कर्म करते हैं, कुछ कर्मों का फल तो तुरन्त मिल जाता है, कुछ कर्मों का फल देर में मिलता है और कुछ कर्मों का फल पता ही नहीं चलता है। कहते हैं इस जन्म में नहीं मिलता है तो अगले जन्म में मिलेगा। इसलिए मन्त्र में शब्द रखा 'प्रेत्य' मर करके। इसी जन्म में मिलेगा कोई गारन्टी नहीं है। इसी जन्म में भी मिल सकता है, लेकिन मनुष्य जीवन विशेष है, विशेष योनि है। परमात्मा ने ऐसा अवसर दे रखा है कि इसमें पूरा जी भरके आप को जो करना है करो, अन्य किसी योनि में यह स्वतन्त्रता नहीं है। इसलिए परमात्मा बीच में हस्ताक्षेप नहीं करता है। बचपन से देखिए कितनी बार हमने झूठ बोला होगा। यदि एक बार के झूठ बोलने से परमात्मा गुँगा कर देता तो हमारी कैसी स्थिति होती ? आज सारे जितने हम बैठें हैं सब गुँगे होकर बैठते। परमात्मा ने ठीक व्यवस्था की है। हमने कितनी बार भी झूठ बोला, परमात्मा ने हमको गुँगा नहीं बनाया। उसने कहा है कि और अवसर देता हूँ, अभी भी सुधर जाओ। सुधर जायेंगे तो अगले जन्म में ठीक मिलेगा और नहीं सुधरे, पूरे जीवन भर झूठ बोले, तो महर्षि दयानन्द जी और महर्षि मनु जी कहते हैं कि जो वाणी से पाप करता है उसको पक्षी बना देता है ईश्वर। बोल नहीं सकते हैं, बोलना बन्द हो जायेगा। तो वाणी से पाप करने का यह दण्ड लिखा है। परमात्मा बार-बार सब को अवसर देता है। जैसे विद्यार्थी परीक्षा में बैठता है, उसके सामने तीन घण्टे होते हैं, तीन घण्टे में वह लिखता है और (INVIGILATOR) निरीक्षक जो

होते हैं, वे घूमते रहते हैं। कल्पना करिए कि एक निरीक्षक ने देखा विद्यार्थी गलत लिख रहा है, तो निरीक्षक उसका हाथ नहीं पकड़ता है कि तुम गलत लिख रहे हो। वह सोचता है तीन घण्टे मिले हैं, जो लिखना है लिखो और तीन घण्टे के बाद घण्टी बजती है उसके बाद उसका लेखन बन्द हो जाता है, बीच में उसको बन्द नहीं करते। तीन घण्टे का पूरा अवसर देते हैं, पूरा लिखता है। घण्टी बजती है उसके बाद उसका पेपर ले लेते हैं, फिर उसका मूल्यांकन होता है। उसके बाद (Result) परिणाम आता है। ऐसे ही परमात्मा ने तीन घण्टे का जीवन दिया है, कौन से तीन घण्टे हैं? एक बाल्यकाल, एक युवाकाल और एक प्रौढ़काल। बाल्यकाल में हमको परमात्मा ने इस एक घण्टे का समय दिया है, उस समय हम कितना पुरुषार्थ करते हैं? जो व्यक्ति बाल्यकाल में पुरुषार्थ करता है उससे वह जीवन भर सुखी रहता है। बाल्यावस्था से यदि शरीर को अच्छा बनाता है, पढ़ाई-लिखाई करता है, पढ़ाई में मन लगाता है, वह बाद में सुखी होता है। पढ़ाई में कष्ट तो होता है, बच्चे सामान्यतः स्कूल में जाना नहीं चाहते, रोते हैं। जब पहली बार नर्सरी में छोड़ते हैं बच्चे रोने लग जाते हैं, जाना ही नहीं चाहते, माता-पिता के पास, घर में ही रहना चाहते हैं। जब स्कूल में जाते हैं, रोते हैं, लेकिन रोते हुये भी जब उसमें अभ्यास हो जाता है, पढ़ते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, तो वे जीवन भर सुखी रहते हैं, और जो पहले घण्टे में कुछ नहीं लिखते हैं अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करते हैं, जीवन भर दुःखी रहते हैं। आप लोगों ने भी स्कूल, कॉलेज में परीक्षाएँ दी होंगी, तो पहले घण्टे में हम क्या लिखते हैं? जो प्रश्न सरल है हमको बढिया से समझ में आता है, उसको हम पहले लिख देते हैं। यह पहला घण्टा अर्थात् जीवन का बाल्यकाल जो है उन्नति करने का सबसे बढिया अवसर है, सरल अवसर है, सहज अवसर है। काम कुछ नहीं करना पड़ता है, कोई दायित्व नहीं है, कोई (चिन्ता) टेन्सन नहीं, सोचना नहीं, माता-पिता, गुरु-आचार्य सब तैयार बैठे हैं आपको केवल इसमें बढना

है, उसमें जो बढ़ जाता है वह जीवन भर सुखी रहता है। अब पहले घण्टे में पुरुषार्थ हो गया है। दूसरी अवस्था है 'युवावस्था'। युवा काल आता है, जो परीक्षा का दूसरा घण्टा है। अब सरल-सरल प्रश्न सब लिख दिए हैं। अब कौन से प्रश्न बचे हैं? जो मध्यम स्तर के हैं और ज्यादा कठिन नहीं हैं। जो हमको बिल्कुल समझ में नहीं आता, उसको हम रख देते हैं। जो कुछ समझ में आता है ओर कुछ नहीं आता, ऐसे प्रश्नों को चुनकर लिखते हैं। यह है हमारा युवाकाल। तो बाल्यकाल में जो पुरुषार्थ करता है, आत्म केन्द्रित रहता है, केवल अपनी उन्नति के लिए सोचता है। परिवार कैसे चलेगा? क्या काम होगा? पैसा है या नहीं इनमें उसे कोई चिन्ता नहीं होती? वह अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। अब वह युवाकाल में पहुँचता है, वह गृहस्थ आश्रम में जाए तो उसके साथ पत्नी को जोड़ देते हैं। पहले एक के लिए सोचता था, उसके बाद दो के लिए सोचना होता है और जैसे ही दो में बँधता है तो उसके अन्य कर्तव्य भी आ जाते हैं। समाज के लिए भी होता है, माता-पिता, परिवार, राष्ट्र सब के लिए होता है; उसके सारे कर्तव्य आ जाते हैं। यही जीवन का दूसरा घण्टा है। इस कर्तव्य को जो पूरा कर देता है वह आगे के जीवन काल में सुखी रहता है। शरीर में शक्ति उसी समय होती है, युवावस्था में। बौद्धिक क्षमता होती है, उसका अनुभव लेता है और लाभ उठाता है। जब शरीर शिथिल हो जाता है, प्रौढ़ अवस्था में। उस समय में आत्मिक उन्नति में प्रयत्न करने के लिए तीसरे घण्टे का समय मिलता है। जो जीवन के बाल्यकाल, युवाकाल और प्रौढ़काल, ये तीन काल हैं; इन तीनों में से प्रौढ़ अवस्था में आत्मिक उन्नति, पीछे गृहस्थ जीवन में जो पूरा अनुभव लिया और बाल्यकाल में जो ज्ञान अर्जन किया था, उन शास्त्रीय पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान और जीवन के अनुभव का ज्ञान, दोनों को तुलना करके देखता है, मिलाकर देखता है, जो उनमें से निष्कर्ष निकलता है कि जीवन का सार क्या है? पुनः जीवन के अन्तिम

ध्येय के लिए पुरुषार्थ करता है, वह जीवन का तीसरा घण्टा है। यह तीसरे घण्टे की परीक्षा है। ये तीन घण्टे की परीक्षा हो जाती है। जब घण्टी बजती है, कौन सी घण्टी ? मृत्यु की घण्टी। मृत्यु की घण्टी बजती है तब तीन घण्टे की परीक्षा पूरी हो गई। अब आपने बाल्यकाल में क्या लिखा था ? युवाकाल में क्या लिखा था और प्रौढ़काल में क्या लिखा ? सब का हिसाब होगा, उसका फिर मूल्यांकन होगा। मूल्यांकन होकर फिर परिणाम घोषित कर दिया जायेगा, निर्णय बता दिया जायेगा कि आपको कहाँ जाना है। ये तीन घण्टे की परीक्षा सबके जीवन में आती है, जो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, तीन घण्टे में अच्छे परिणाम को प्राप्त कर लेता है और जो इन तीन घण्टे में अच्छा पुरुषार्थ नहीं करता है, आत्महत्या करता है, उसके लिए मन्त्र कहता है — ‘अन्धेन तमसावृताः’ घन-घोर अन्धकार से ढकी हुई जो योनियाँ हैं, जो स्थान हैं, ऐसे स्थान को वह व्यक्ति प्राप्त होता है। महर्षियों का अभिप्राय यही है कि हम आत्महत्यारे न बनें। हमारा जीवन उज्ज्वल हो, हमारा कल्याण हो, भविष्य में हम सुख को प्राप्त करें। ऐसे भयंकर अन्धकार योनियों में न जाएं। मनुष्य जन्म ही सभी योनियों का कारण है। ये सब हमारे जैसे मनुष्य थे और मनुष्य जीवन में इन्होंने कार्य गलत किया इस कारण से दण्ड भोग रहे हैं। हम उनको देखकर, मन्त्र को पढ़कर, समझ जाएँ और अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाएँ, महान बनाएँ। ओ३ऽऽऽऽऽ.....म्। शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।



चौथी कक्षा

उपनिषद् की चौथी कक्षा हैं। पीछे हमने तीसरे मन्त्र के ऊपर विचार किया था। 'असुर्या' असुर्या शब्द का क्या अर्थ है? असुर प्रवृत्ति से जो युक्त मनुष्य। 'अन्धेन तमसावृताः' क्या अर्थ है? घोर अन्धकार से युक्त। घोर अन्धकार से युक्त क्या चीज है? लोक, मतलब स्थान, ऐसे स्थान, ऐसी योनियाँ, जो घोर अन्धकार से युक्त हैं। आत्महत्या क्या है? जो यथार्थ जानते हैं, उससे विपरीत कर्म करना। जैसे कोई एक-दो उदाहरण दीजिए। जैसे सत्य बोलना चाहिए, और यह जानकर भी कोई असत्य बोल रहा है तो ये आत्महनन हो जायेगा। असुर्या और आत्महनन ये एक ही हैं या अलग-अलग हैं? एक ही है। जो लोग असुर होते हैं, वहीं लोग आत्महत्यारे हैं अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध आचरण करते हैं। यदि हम आत्मस्थ ज्ञान से विपरीत आचरण करें तो क्या होगा? आत्मा का हनन। उससे क्या परिणाम आयेगा? अन्धकार योनि को प्राप्त होंगे। जो लोग ऐसे काम करेंगे वे अन्धकार योनि को प्राप्त करेंगे। जिस समय आत्महनन करेंगे क्या उसी समय प्राप्त हो जायेंगे? नहीं, अगले जन्म में प्राप्त होंगे। जब हम गलत आचरण करते हैं तो ईश्वर हमें क्यों नहीं रोकता? सब मनुष्य स्वतन्त्र हैं। ईश्वर जानते हुये भी क्यों नहीं रोकता? स्वतन्त्रता के कारण। सबको कर्म की स्वतन्त्रता है। ये हमारे जीवन का परीक्षा काल है, परीक्षा के समय हाथ नहीं पकड़ते हैं। पहले ईश्वर प्रेरित कर देता है, अच्छा कर्म करने को प्रेरणा करता है, बुरे कर्म से रोकने के लिए प्रेरणा करता है। जैसे स्कूल में, कॉलेज में टीचर्स (अध्यापक) पढ़ा देते हैं। उस समय तो वे सही क्या है, गलत क्या है,

बता देते हैं। लेकिन परीक्षा में लिखते समय नहीं बताते हैं, ऐसे ही ईश्वर हमारे अन्दर अन्तःप्रेरणा कर देता है, उसको मानें, न मानें हमारी इच्छा है, स्वतन्त्रता है। यदि ईश्वर उसी समय रोक दे, तो कर्म का फल जीवात्मा को नहीं मिलेगा। यह उत्तर है इसका। यदि ईश्वर रोक दे बुरे कर्म से और अच्छे कर्म में धकेल दे, तो कर्म करने वाला कौन हुआ ? ईश्वर या हम ? ईश्वर हुआ। तो फल उसको मिलेगा हमको नहीं मिलेगा। ऐसे समझना चाहिए।

अगला मन्त्र —

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
॥ ४ ॥

परमेश्वर के बारे में वर्णन करते हैं। पिछले मन्त्र में बताया था आत्महत्यारे लोग कैसे होते हैं ? इस मन्त्र में बता रहे हैं कि कैसे मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं ? कैसे जानने वाले व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं ? सबसे पहले शब्द रखा — ‘अन् एजत्’ ‘ऐजृ कम्पने’ धातु है। कम्पन होना और उसमें ‘अन्’ नञ् समास कर दिया तो नहीं होना, कम्पित नहीं होना। ईश्वर कभी कम्पित नहीं होता है, चलायमान नहीं होता है। कोई वस्तु जब कम्पनयुक्त होती है, हम देखते हैं उसमें गति होती है, चलायमान होती है। चलायमान होने के लिए क्या आवश्यक है ? कोई स्थान चाहिए तब कम्पित होगी। यदि उसको चारों ओर से बन्द कर दें, तो वस्तु अन्दर कम्पित कैसे होगी ? ऐसे परमपिता परमात्मा अपने स्वरूप से सब जगह व्यापक है। जब सर्वव्यापक हो गया, तो उसको हिलने के लिए कोई स्थान नहीं है। सबसे बड़ी बात देखो ! हम ईश्वर को अपने अन्तःकरण से त्याग कर देते हैं। भूल जाते हैं, छोड़ देते हैं, उसका स्मरण नहीं करते हैं। लेकिन ईश्वर हमको कभी छोड़ नहीं

सकता है। क्यों ? ईश्वर सर्वव्यापक है। तो हमें कहाँ भेजेगा, जहाँ भी जायें हम ईश्वर के अन्दर ही रहेंगे। ईश्वर हमें अपने राज्य से बाहर नहीं निकाल सकता है। हम अपने हृदय के राज्य से परमात्मा को कभी निकाल देते हैं, कभी धारण करते हैं। परमात्मा के लिए कहा कि ‘अन्-एजत्’ कम्पित नहीं होता, चलायमान नहीं होता, उसमें कभी गति नहीं होती है। दूसरी बात बताई — ‘एकम्’ वह एक है। आज संसार में ईश्वर के बारे में सर्वाधिक मतभेद है और अन्य किसी विषय में इतना मत भेद नहीं है। अन्य विषयों में भी है मतभेद, लेकिन जितना मतभेद ईश्वर के बारे में है, उतना मतभेद और किसी के बारे में नहीं है, लेकिन वेद कहता है — ईश्वर एक है, तो अनेक प्रकार के लोग, अनेक प्रकार के ईश्वर को पूजते हैं और कहते हैं वही एक है लेकिन उसके रूप अनेक हैं। यह कथन ठीक नहीं है। परमात्मा एक है और उसका स्वरूप भी एक ही है, अलग-अलग नहीं है। मन्त्र में कहा कि — परमात्मा एक है।

उस ‘अन् एजत्-एकम्’ एक अकेले परमात्मा को कैसे समझना है ? कहते हैं — ‘मनसो जवीयो’ मन से भी परमात्मा अधिक बलवान् है, वेगवान् है ‘जव’ गत्यर्थक धातु है, वेग को कहते हैं। मन से भी अधिक वेगवान् है। पहले हम मन को समझ लेते हैं। मन कैसा होता है ? फिर मन से भी अधिक वेगवान् परमात्मा को समझेंगे। मन का कार्य बहुत अधिक है। परमात्मा ने बहुत सारे साधन दिये हैं। उन साधनों में मन एक विशेष साधन है। न्यायदर्शन में इसकी लम्बी चर्चा हुई है। जैसे बाहर काम करने के लिए हमारे पास हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि हैं; ये बाह्यकरण हैं। ऐसे अन्दर काम करने के लिए परमात्मा ने एक साधन दिया है। उसको हम कहते हैं अन्तःकरण, उसका नाम है मन और यह मन कितना बलवान् है ? सोने से पहले हम मन्त्र पाठ करते हैं — ‘यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति’ जाग्रत अवस्था में जो मन दूर-दूर तक जाता है और सोते समय में भी जो दूर-दूर तक

जाता है। वह मन कितना बलवान् है ? अभी हम यहाँ बैठे हैं और तुरन्त आप विचार करेंगे, कि दिल्ली के लालकिले तक पहुँच जायेगा, तो वह मन कितना वेगवान् है ! लोक में, संसार में आज जो सबसे गतिशील पदार्थ माना जाता है, वह है प्रकाश। सूर्य की दूरी हमारी धरती से पन्द्रह हजार करोड़ किलोमीटर है और सूर्य से प्रकाश को चलकर धरती तक आने में आठ मिनट का समय लगता है। प्रकाश की गति एक सेकेन्ड में लगभग तीन लाख किलोमीटर होती है इतना गतिमान है प्रकाश। सबसे ज्यादा गतिशील तत्त्व वैज्ञानिक प्रकाश को मानते हैं। लेकिन मन हमारा इससे भी गतिशील है। आप यहाँ बैठे हैं और तुरन्त विचार कीजिए सूर्य के बारे में, मन में तुरन्त विचार आ जाता है। मन वहाँ पहुँच जाता है मतलब वृत्ति मात्र से मन वहाँ पहुँच जाता है। मन अपनी वृत्ति के द्वारा उस-उस स्थान को प्राप्त होता है। यह मन की गतिशीलता है।

मन का कार्य क्या है ? मन के द्वारा ही हम सब स्मृतियाँ उठाते हैं। यदि मन न हो तो स्मृति ही नहीं उठा सकते हैं। इस मन में ही हमारे सारे संस्कार एकत्रित होकर रहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण तो हमारी इन्द्रियों के माध्यम से होता है। आँख से देखा रूप का प्रत्यक्ष हो गया, कान से सुना शब्द का प्रत्यक्ष हो गया। लेकिन अनुमान प्रमाण से हम जो ज्ञान करते हैं, वह ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता है। आँख से तो आपने धुँआ को देखा, लेकिन मन के द्वारा हम अनुमान करते हैं कि जहाँ-जहाँ धुँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि है। यह जो अग्नि का ज्ञान हुआ, यह अग्नि आपको सीधे आँख से नहीं दिख रही है। आपको मन से ज्ञान होता है। अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान होता है वह मन का कार्य है। आगम प्रमाण — हम अभी जैसे शास्त्र को पढ़ते हैं, उसको कहते हैं आगम काल। शास्त्र को पढ़ना-सुनना यह आगम काल है। आगम से जो ज्ञान होता है, व्याकरण में इसकी लम्बी चर्चा की है और दर्शन में भी यह बात आती है कि जैसे 'गौः' शब्द बोलते हैं, गकार, औकार, विसर्जनीय। अब

‘ग’ आते समय ‘औकार’ नहीं आता, ‘औकार’ आते समय ‘विसर्जनीय’ नहीं है। लेकिन ‘गौः’ शब्द बोलने से हम को एक प्राणी का ज्ञान हो जाता है, वह कैसे होता है? कहते हैं वह मन के माध्यम से होता है। कान से तो केवल एक-एक वर्ण सुनाई देता है, वर्णों में अर्थ नहीं होता है, आपने कहा ‘आचार्य’। अब ‘आ’ अक्षर बोलते समय ‘च’ अक्षर नहीं है। ‘च’ अक्षर बोलते समय ‘आ’ अक्षर समाप्त हो गया। ये सारे अक्षर अलग-अलग एक-एक सुनाई देते हैं, हमको ज्ञान कैसे होता है? तो वह मन के माध्यम से होता है। जो भी हम सुनते हैं, सुनाते हैं वह मन के माध्यम से होता है। (प्रश्न) मन बहुत तेजी से चलता है जैसे हम देखते भी हैं अनुभव भी करते हैं लेकिन मन किस पदार्थ से बनता है? (उत्तर) मन हमारा बनता है प्रकृति से, सत्त्व, रज, तम इन तीनों को मिलाकर परमात्मा मन का निर्माण करता है और सृष्टि के आरम्भ में बना देता है। सब जीवात्माओं को एक-एक मन दे देता है और वह प्रलय तक रहता है। मरने के बाद यह शरीर तो छूट जाता है लेकिन मन हमारे साथ अगले जन्म में जाता है। स्वरूप कैसा मानेंगे? प्रकाश की तरह मानेंगे? प्रकाश से भी सूक्ष्म है आँख से नहीं दिखेगा।

मन के द्वारा ही हम स्मरण करते हैं, मन के द्वारा अनुमान करते हैं, मन के द्वारा ज्ञान करते हैं। जो संशय होता है, कहाँ उत्पन्न होता है? संशय भी मन में ही उत्पन्न होता है। विचार करते हैं किन्तु पता नहीं चलता है, यह ऐसा है, वैसा है, यह जो संशय की प्रक्रिया है, यह भी मन में होती है और जितनी भी प्रतिभा है, योगदर्शन की शैली में कहें तो ‘प्रातिभज्ञान’ ये सब मन में होते हैं। मन के अन्दर ही विशेष-विशेष प्रतिभाएँ होती हैं। जो मन लगाकर कार्य करता है वह कलाकार बन जाता है। हर व्यक्ति चित्रकार नहीं बन सकता और चित्र बनाने में जिसकी रुचि है, मन से वह निर्णय करता है, कैसे करना है, चित्र कैसे बनाना है? यह मानसिक क्षमता है। सारी प्रतिभाएँ मन में होती हैं। शारीरिक

स्तर पर जो काम करते हैं वह अलग स्तर पर होता है। वह सबका समान हो सकता है। एक शारीरिक कार्य को करता है, दूसरा व्यक्ति भी उस कार्य को कर सकता है। लेकिन मन विशेष प्रतिभा से युक्त होता है। और हर व्यक्ति संगीत गा नहीं सकता, हर व्यक्ति चित्रकार नहीं बन सकता, हर व्यक्ति कलाकार नहीं बन सकता, नृत्य नहीं कर सकता, वह मन का क्षेत्र है। जो विशेष प्रतिभाशाली है वह शिल्पकार। यह सब मन के धर्म हैं।

स्वप्न भी हम देखते हैं, मन के ही माध्यम से देखते हैं। थोड़े काल में बहुत विषय देख लेते हैं। स्वप्न जैसे होता है। वास्तव में तो बहुत थोड़ा समय लगेगा। लेकिन स्वप्न में लगता है मैं देर से यह देख रहा हूँ, भोग कर रहा हूँ, ऐसे बोध होता है। यह मन की विशेषता है। न्यायदर्शन में एक प्रश्न उठाया, इन्द्रियाँ और अर्थ का सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, मन और आत्मा को कहा ही नहीं? तो कहा, मन तो हर प्रमाण में ज्ञान का कारण बनता है। कोई भी प्रमाण प्रयोग करते हैं, मन उसमें अवश्य कारण है। बिना मन के ज्ञान नहीं होता है। ऊहा-पोह करना, विचार करना, अपनी ओर से प्रश्न-उत्तर करना, यह मन से होता है। ऐसा हो सकता है, वैसा हो सकता है। इस प्रकार जो हम ऊहा-पोह करते हैं, यह मन का कार्य है। इतने सारे कार्य मन करता है। योगदर्शन, न्यायदर्शन में मन के बहुत कार्य गिनाये। इस शरीर को धारण करना, यह मन का कार्य है। मन का यदि सम्बन्ध छूट जाये, तो धड़ाम से गिर जाएंगे। मन इतना सामर्थ्यवान है और बहुत तेजी से कार्य करता है। आप इस मन के बारे में जानते हो, इस मन से भी अधिक वेगवान् परमात्मा है। 'मनसो जवीयो' मन से भी वेगवान् है, मन से भी तेज है, मन से भी अधिक बलवान् है।

एक और बात बताई — 'न-एनद् देवाः-आप्नुवन्' 'देव' का अर्थ यहाँ इन्द्रियाँ हैं। हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, मन भी एक इन्द्रिय है और ये जो बाह्य इन्द्रियाँ हैं ये परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती हैं। बहुत बड़ा वैदिक सिद्धान्त है कि इन्द्रियों के द्वारा हम परमात्मा को प्राप्त नहीं कर

सकते हैं। ध्यान करते हैं, साधना करते हैं, लोग शास्त्र पढ़ते हैं फिर भी उनसे पूछते हैं तो वे कहते हैं मन में ऐसे रहता है कि मैं ध्यान में बैठता हूँ और परमात्मा मेरे सम्मुख आकर विद्यमान हो जाए। ऐसी अभिलाषा तब भी बनी रहती है। वर्षों तक ध्यान, उपासना, शास्त्र अध्ययन—अध्यापन करने के बाद भी ऐसी स्थिति बनी रहती है। शास्त्र कहता है — परमात्मा को इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकती हैं। कभी-भी हम उपासना में बैठते हैं, ध्यान में बैठते हैं, मन में किसी भी रूप की कल्पना ना करें और रूप के द्वारा अगर परमात्मा का ज्ञान हो जाएं ऐसी अभिलाषा भी मन में नहीं होनी चाहिए। मन से ही हमको निश्चय होना चाहिए कि परमात्मा ऐसे इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता है। जब ऐसे जानते हैं तब परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने इस मन्त्र का शीर्षक दिया है — कैसे योगाभ्यासी, योगी ईश्वर का साक्षात्कार करता है ? कहते हैं ‘नैनद्देवाः—आप्नुवन् पूर्वमर्षत्’। कई सारे साधक कहते हैं कि जैसे ही हम ध्यान में बैठते हैं हमको एक प्रकाश दिखता है, चमक दिखती है। यह जो प्रकाश है, चमक है यह परमात्मा का नहीं है। परमात्मा में कोई भौतिक प्रकाश है ही नहीं। जब प्रकाश है नहीं तो इन्द्रियों से दिखेगा ही नहीं। जैसे आज कल प्रचलित भ्रामरी प्राणायाम करते हैं। भ्रामरी प्राणायाम करने से एक प्रकाश दिखता है। कोई भी करता है, उसको दिखता है। वह प्रकाश हमारी आँखों की रोशनी के प्रभाव से होता है। जब हम आँख को दबाते हैं, तो उस कारण से प्रकाश अन्दर दिखाई देता है। वह परमात्मा का प्रकाश नहीं है। परमात्मा को कह दिया इसको आप इन्द्रियों से प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

कई लोग कहते हैं कि परमात्मा की आवाज़ सुनाई देती है। यदि मन में, हृदय में ईश्वर प्रेरणा प्रेरित करता है, वह तो ठीक है लेकिन जैसे हमें कान से सुनाई देता है, ऐसे परमात्मा की आवाज़ भी आपको कान से सुनाई देती है, यह ठीक नहीं है। दिव्य वाणी हो गई, आकाशवाणी हो गई, ऐसी परमात्मा की कोई वाणी कान से सुनाई नहीं देगी, क्योंकि

वह इन्द्रियों से प्राप्त होता ही नहीं है। 'नैनद्देवाः—आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' अब ऐसे ही सब जगह समझना, न शब्द, न स्पर्श, न रूप, न रस, न गन्ध। हठयोग में एक अभ्यास कराते हैं, जिसको वे खेचरी मुद्रा कहते हैं और वह खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते-करते क्या करते हैं? उसमें जीभ को ऊपर लगाते हैं, उल्टा करके जीभ को कण्ठ के अन्दर कराते हैं और कहते हैं ऐसे करके जब ध्यान में बैठते हैं, तो विशेष एक रस टपकता है और बहुत आनन्दमय रस होता है, उसको परमात्मा का आनन्द मानते हैं। परमात्मा का कोई ऐसे रस नहीं होता है, वह स्वरूप में तो आनन्द स्वरूप है। लेकिन जीभ के द्वारा उसके आनन्दरस का आस्वादन या स्पर्श अनुभव नहीं होता है। शास्त्र मना करता है 'नैनद्देवाः' उसको कोई भी इन्द्रिय प्राप्त नहीं कर सकती है।

'पूर्वमर्षत्' 'पूर्वम्' का अर्थ होता है पहले से ही 'अर्षत्' (यह 'ऋषि'गतौ धातु से बना है) अर्थात् पहुँचा हुआ होता है। अब मन से भी वेगवान् है। मन को तो हम किसी स्थान पर भेजते हैं तो मन से हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, लेकिन परमात्मा मन से भी अधिक वेगवान् है, गतिमान् है, इसका अर्थ यह नहीं कि जैसे मन में गति होती है, ऐसे परमात्मा में भी गति होती है। ऐसे नहीं है, यह भ्रान्ति किसी को न हो जाए कि परमात्मा भी गतिशील है, परमात्मा भी गति करता है—जैसे हम दौड़-दौड़ कर जाते हैं वैसे परमात्मा भी जाता है इस प्रकार भ्रान्ति न हो जाए, इसलिए वहाँ पर रखा 'पूर्वमर्षत्' पहले ही वह पहुँचा हुआ है। जैसे अभी हमने मन को पढ़ने में लगा रखा है, कभी विषयों में लगाते हैं, कभी विचार में लगाते हैं, कभी किसी अन्य विषय में लगाते हैं तो मन को हम भेजते हैं, प्रेषित करते हैं। परन्तु परमात्मा ऐसे गतिशील नहीं है। जहाँ भी हम मन को भेजते हैं, वहाँ परमात्मा पहले से पहुँचा हुआ है। स्वामी सत्यपति जी महाराज कहते हैं कि हर पदार्थ ईश्वर में डूबा हुआ अनुभव करो। आपका मन जहाँ भी गया, वहाँ पहले से ही ईश्वर

विद्यमान है। आप तो मन से विचार करते हैं, ध्यान के समय कोई विचार आ गया, चाहे किसी स्थान का, किसी व्यक्ति का, किसी वस्तु का विचार हम करते हैं, लेकिन जिस विषय में विचार करते हैं, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान है। कल्पना करो कोई व्यक्ति चोरी करने गया है और वहाँ पहले ही मालिक विद्यमान है तो वह चोरी करेगा या भाग जाएगा ? मन में जो आपने विचार किया, वहाँ परमात्मा पहले से ही विद्यमान है। और परमात्मा का ध्यान करने के लिए हम बैठे थे (स्वामी विष्णु जी कहते हैं) कि हमने कुछ समय चुरा लिया उसमें से। चुरा कर दूसरे विचार में मन को लगा दिया। तो आप चोरी करने गये वहाँ परमात्मा पहले से ही विद्यमान है। परमात्मा को हम सर्वत्र अनुभव करते हैं कि वह पहले से ही पहुँचा हुआ है तो मन को हम नहीं लगायेंगे। कहते हैं कि 'पूर्वमर्षत्'। पहले से पहुँचा हुआ भिन्न विषय में है।

'तद्-धावतो-अन्यान्-अति-एति' वह परमात्मा कैसा है ? कहते हैं 'धावतः'। 'धावतः' का अर्थ होता है दौड़ने वाले। जितने व्यक्ति दौड़ लगाते हैं। अब कल्पना करो दौड़ लगाने के लिए कहीं तो एक व्यक्ति प्रथम स्थान पर आता है। जो प्रथम स्थान पर आता है हम कहते हैं कि यह सबसे तेज दौड़ने वाला है, सबसे तेज धावक हो गया वह व्यक्ति। परमात्मा को कहते हैं कि दौड़ने वाले जितने हैं सभी को वह अतिक्रमण कर जाता है, जितने भी दौड़ने वाले तत्व हैं उन सबको परमात्मा पार कर जाता है। ईश्वर ज्ञान की दृष्टि से भी, अब दौड़ को देखो ! मेरी दौड़ तो योगदर्शन तक है, इसका मतलब क्या होता है ? मुझे योगदर्शन का ज्ञान है। ज्ञान को भी वहाँ दौड़ के अर्थ में कह देते हैं। कोई व्यक्ति ज्ञान की दृष्टि से कितना भी पहुँचा हुआ हो, कोई बल की दृष्टि से कितना भी पहुँचा हुआ हो, कोई रूप की दृष्टि से कितना भी पहुँचा हुआ हो, किसी भी सामर्थ्य से कोई कितना भी पहुँचा हुआ व्यक्ति हो, जितनी भी वह दौड़ लगा सकता है; परमात्मा उन सबसे अधिक पहुँचा हुआ है।

सर्वत्र पहुँचा हुआ है, सब जगह पहुँचा है और हर क्षण पहुँचा हुआ रहता है। हम जिस क्षण में सत्संग भवन में बैठे हैं, तो अपने कमरे में नहीं हैं। लेकिन परमात्मा सब जगह, सर्वत्र पहुँचा हुआ है। कहते हैं — ‘तद्-धावतो—अन्यान्—अत्येति’ जितने भी पदार्थ संसार में दौड़ लगाने वाले हैं वह उन सबको अतिक्रमण कर जाता है। मनुष्य में हम देखते हैं, मेरी बुद्धि इतनी है, दूसरे की बुद्धि मेरे से ज्यादा है। तीसरे की बुद्धि उससे भी ज्यादा है, वह और आगे है, और आगे है। संसार में कोई व्यक्ति प्रथम स्थान पर हमेशा के लिए रह नहीं सकता। जितने भी आगे-आगे ऊँची योग्यता वाले आते हैं, प्रत्येक वर्ष ये बदलते जाते हैं। कुछ वर्ष कोई रह भी जाये, तो कुछ वर्ष बाद फिर बदल जाता है इस संसार में। भर्तृहरि जी ने एक बढ़िया श्लोक लिखा है :—

‘भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते

नृपालाद् भयं, शास्त्रे वादभयं.....’

शास्त्र को पढ़कर जितने विद्वान् होते हैं, पण्डित होते हैं, एक से बढ़कर एक विद्वान्, पण्डित होते हैं। इसलिए वेदान्त में एक सूत्र आया ‘न तर्क—अधिष्ठानात्’ तर्क जो है अन्तिम नहीं है, क्योंकि एक तर्क के द्वारा, दूसरा तर्क खण्डित हो जाता है। आप कितना भी शास्त्र पढ़ें, आप अन्तिम विद्वान् हो जायेंगे, आपसे बड़ा कोई विद्वान् होगा ही नहीं, यह सम्भव नहीं है। इसलिए महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से लेकर कितने ऋषि-महर्षि हुये, वे सब महाविद्वान् हैं। महर्षि ने अपने आपको सबसे बड़ा विद्वान् नहीं माना। सब ऋषि-महर्षियों को उन्होंने बड़ा विद्वान् माना है। सांसारिक उपलब्धियों में जितनी भी उपलब्धियों को प्राप्त करते हैं, वे सब एक से बढ़कर एक हो सकती हैं। लेकिन ईश्वर इन सब को पार कर जाता है। ईश्वर से बड़ा विद्वान् कोई नहीं हो सकता है। ईश्वर से बड़ा बुद्धिमान् कोई नहीं हो सकता, ईश्वर से

बड़ा बलवान् कोई नहीं हो सकता है, ईश्वर से बड़ा सौन्दर्यवान्, ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव देखेंगे तो हर गुण में उसकी विशेषता है। वही उसकी सुन्दरता है, ऐसे हमारे जैसे रूप नहीं हैं। लेकिन ईश्वर की शोभा भी है। यजुर्वेद में एक मन्त्र आता है 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ-अहोरात्रे' श्री और लक्ष्मी ये दोनों उसकी पत्नी के समान हैं। 'श्री' का अर्थ होता है सुन्दरता, शोभा। परमात्मा की शोभा क्या है? उसके गुण-कर्म-स्वभाव की उत्कृष्टता ही उसकी शोभा है, उसकी सुन्दरता है और यह संसार उसकी शोभनीय रचना है, तो परमात्मा सबसे आगे पहुँचा हुआ होता है। उसको कोई पार नहीं कर सकता है। कहते हैं 'तद्-धावतो-अन्यान्-अत्येति' अन्यो को वह अति क्रमण कर जाता है, सब को पार कर जाता है, जितनी भी दौड़ लगाएँ, वह सबको पार कर जाता है।

कैसे पार कर जाता है? कहते हैं हम लोग तो जब दौड़ लगाते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, गति करते हैं, गति करके हम पार करते हैं पीछे का स्थान छोड़ते जाते हैं और आगे-आगे पहुँचते हैं। परमात्मा ऐसे गति करके आगे नहीं पहुँचता है। तो कैसे पहुँचता है? कहते हैं 'तिष्ठत्' सब जगह वह ठहरा हुआ है। एकदम स्थिर है। मन्त्र के पहले शब्द में भी यही बताया था 'अन्-एजत्' वह गति नहीं करता है, कम्पित नहीं होता है और आगे भी कहा 'तिष्ठत्' सब जगह वह ठहरा हुआ है। पहले से ही विद्यमान है, विद्यमान होकर वह अपने स्वरूप में अविचल रहता है। इसलिए जब हम ध्यान करते हैं, योगाभ्यास करते हैं तब सबसे पहले क्या करते हैं? आसन लगाते हैं। परमात्मा स्थिर है, तो स्थिर परमात्मा को प्राप्त करने के लिए हमें भी स्थिर होना आवश्यक है। हम यदि चञ्चलता से युक्त रहेंगे, हिलते रहेंगे, तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी। पहले व्यक्ति आसन में बैठकर चित्त की ऊँची, एकाग्र स्थिति प्राप्त कर ले। स्थिति ऊँची बन जाए, फिर चलते फिरते शय्या में लेटा हुआ, बैठा हुआ प्रत्येक अवस्था में नित्य, मुक्त, अमृत,

आनन्द स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति कर सकता है। वह अलग बात है। लेकिन प्रारम्भिक योगाभ्यासी के लिए शरीर को स्थिर करना बहुत आवश्यक है। जब शरीर को स्थिर करता है तब मन स्थिर होता है। शरीर के हिलते ही मन भी हिल जाता है। इसी के लिए सबसे पहले कहा **‘प्रयत्नशैथिल्य—अनन्तसमापत्तिभ्याम्’** प्रयत्न शैथिल्य शरीर के लिए, शरीर में सभी प्रयत्नों को शिथिल करना होता है, कोई प्रयत्न नहीं, प्रयत्न है तो उसमें गति है। गति है तो फिर एकाग्रता ईश्वर प्राप्ति में बाधक बनती है। हमें स्थिर करना पड़ता है। वेदान्त में भी यही बात बताई **‘आसीनः सम्भवात्’** आसन लगाकर ध्यान करेंगे, तो परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। उसके अगले सूत्र में बताया **‘अचलत्वं चापेक्षः’** अचलत्व की आवश्यकता है। परमात्मा हिलता डुलता नहीं है, उसके साथ सम्बन्ध बनाना है तो आपको भी स्थिर होना पड़ेगा। अचल होना पड़ेगा। जो अचल होकर ध्यान करता है, मन में भी अचल, मन में भी अन्य विषयों को रोकना होता है और शरीर को भी स्थिर करना होता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी लिखते हैं कि महर्षि दयानन्द जी दौड़-दौड़ कर गये जंगल के अन्दर और ध्यान में बैठ गये। एकदम स्थिर बैठ गये, जैसे पत्थर स्थिर होता है वैसे स्थिर हो गये। बिल्कुल हिले नहीं। और कहते हैं कि मैं बहुत देर तक देखता रहा थोड़ी देर के लिए भी हिले नहीं, एक दम स्थिर। परमात्मा की उपासना के लिए हमको भी स्थिर होना आवश्यक है। यही बात कह रहे हैं कि परमात्मा स्वयं स्थिर है **‘तिष्ठत्’** वह स्थिर रहता है।

‘तस्मिन्—अपो—मातरिश्वा दधाति’ — ‘तस्मिन्’ का अर्थ होता है उसमें। उस परमात्मा में, जो परमात्मा ऐसे सर्व व्यापक है, उस परमात्मा में। **‘अपः’** ‘अप’ का अर्थ होता है सामान्य रूप से ‘जल’ और ‘अप’ का अर्थ निघण्टु में कर्म भी है। **‘मातरिश्वा’** शब्द से ‘वायु’ को कहते हैं। परमात्मा की व्यवस्था ऐसी है कि हल्की होते हुये भी वायु भारी

जल को उड़ाकर ले जाती है। जितनी भी भाप उड़ती है वह वायु के माध्यम से ही तो जाती है। 'जल' भार स्वरूप है लेकिन वह भाप के माध्यम से उड़कर वायु के द्वारा ऊपर उठता है। इसका अर्थ महर्षि दयानन्द जी ने 'कर्म' किया है। 'मातरिश्वा अपः दधाति' मातरिश्वा कहते हैं वायु को। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा 'मातरि-अन्तरिक्षे श्वसति-इति मातरिश्वा' श्वसन क्रिया वायु के माध्यम से होती है। जैसे इस अन्तरिक्ष में, खाली स्थान में, वायु विद्यमान है। उस वायु के समान जीव को माना है। जीव कैसा है? वायु के समान है, वायु कैसी है? सब जगह व्यापक होकर इस संसार में कार्य करने वाला तत्त्व है। ऐसे ही जीव इस शरीर के अन्दर विद्यमान है। हमारे भूलोक, भुवलोक, और स्वलोक। तीन लोक प्रसिद्ध हैं, बीच का लोक है :- अन्तरिक्ष। वायु कहाँ पर है? अन्तरिक्ष लोक में है। जैसे अन्दर वायु विद्यमान है, भूलोक और स्वलोक के बीच में वायु विद्यमान है। ऐसे शरीर के अन्दर जीवात्मा विद्यमान है। यह जीवात्मा कर्म करता है और कैसे कर्म करता है? कहते हैं 'तस्मिन्-अपः-मातरिश्वा दधाति' उस परमात्मा के अन्दर ही जीवात्मा विद्यमान होकर सब कर्मों को करता है। परमात्मा के अन्दर उसकी विद्यमानता में हम कर्म करते हैं, यह तो है ही। परमात्मा की शक्ति से, परमात्मा की सहायता से ही हम सब कर्म करते हैं।

स्वामी सत्यपति जी बताते हैं — जीवात्मा अहंकारी बनता है लेकिन उसको अपनी शक्ति से कहा जाए तो एक तिनका भी नहीं बना सकता है। एक तिल के दाने को भी हम पलटा नहीं सकते हैं। आत्मा का अपना सामर्थ्य इतना कम है। जब तक ईश्वर हमें प्राकृतिक तत्त्वों को साधन के रूप में प्रदान नहीं करता है तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते हैं। सबसे पहले हमको ईश्वर महत्तत्त्व बनाकर देता है, अहंकार देता है, मन देता है। अहंकार जब तक नहीं मिलेगा, तब तक हमें अपना बोध भी नहीं होगा। 'मैं हूँ' इतना ज्ञान भी नहीं हो सकता है। तो 'मैं हूँ' का जो ज्ञान होता है, यह अहंकार तत्त्व के कारण होता है। प्रलय

में ये तत्त्व नहीं होते हैं हमारे पास, इसलिए प्रलय में हमें 'अहम्' का ज्ञान नहीं होता है, जीवात्मा को कोई ज्ञान नहीं होता है। 'मैं हूँ' इतना भी उसको ज्ञान नहीं होता है। इसलिए महर्षि ने इसका अर्थ किया — उस परमात्मा की शक्ति में ही हम सब कार्यों को करने में समर्थ होते हैं। परमात्मा की शक्ति के बिना हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते हैं। अहंकार तत्त्व तो सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत है और यह भौतिक शरीर भी जब तक नहीं मिलता है, तब-तक हम कोई भी कर्म नहीं कर सकते हैं। सभी कर्मों को करने का आधार वह परमात्मा है।

मन्त्र में कहा है कि वह 'अन्-एजत्' कभी कम्पित नहीं होता है, चलायमान नहीं होता है। वह एक है, अद्वितीय है, उसके तुल्य और कोई नहीं है। न परमात्मा के तुल्य कोई है, न परमात्मा से बढ़कर कोई है। 'मनसो जवीयो' मन से भी अधिक वेगवान है। 'नैनद्-देवाः-आप्नुवन्' उसको देवता = इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकती हैं। ईश्वर को कभी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। यदि इन्द्रियों से ग्रहण हो जाता, तो उसके लिए व्यक्ति तैयार हैं। आप सुनते होंगे ! प्रत्येक वर्ष कितने लोग अमरनाथ की यात्रा करते हैं। किस लिए यात्रा करते हैं ? भगवान के दर्शन करने के लिए जाते हैं। और प्रत्येक वर्ष कुछ लोग वहाँ मृत्यु को प्राप्त करते हैं, मर जाते हैं। यदि भगवान् का दर्शन इन्द्रियों से हो जाता, तब तो व्यक्ति मरने के लिए भी तैयार हो जाता। भगवान् इन्द्रियों से दर्शन दे देता, तो जिसके पास पैसा है वह पहुँच जाएगा और जिसके पास पैसा नहीं है, गरीब व्यक्ति नहीं जा सकता, तो उसको भगवान मिलेंगे ही नहीं। भगवान् तो धनपतियों का हो जाएगा, गरीबों का भगवान् नहीं रहेगा। मन्त्र कहता है कि भगवान् ऐसा नहीं है, जो इन्द्रियों से मिल जाएगा। चन्द्र में भी मिल जाए, मंगल में भी मिल जाए, ऐसा कहें तो व्यक्ति पैसा इकठ्ठा करके पहुँच जाएगा। क्योंकि यदि भगवान् मिल जाए तो कौन नहीं प्रयास करेगा ? लेकिन भगवान् ऐसे मिलता नहीं है। इन्द्रियाँ उनको

प्राप्त नहीं कर सकती हैं। वह सबको पार कर जाता है। कभी-भी हमारे अन्दर अभिमान अहंकार की भावना आए, तो यह समझना है भगवान् हम सबको पार कर जाता है। 'अन्यान्-अत्येति'। 'तिष्ठत्' वह हमेशा ठहरा हुआ रहता है। 'तस्मिन्' उस परमात्मा के अन्दर ही सब जीव कर्मों को करते हैं, धारण करते हैं। जो हम कर्मों को करते हैं, धारण करते हैं, वह उस परमात्मा के अन्दर ही होते हैं।

अगले मन्त्र में भी परमात्मा के बारे में ही वर्णन है। मन्त्र है —

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

मन्त्र में कहा 'तद्-एजति' वही धातु है, 'एजृ कम्पने'। 'तद् एजति' का मतलब है कि वह परमात्मा चलता है। चलायमान होता है। सीधा-सीधा अर्थ करेंगे तो यही होगा कि परमात्मा चलता है, लेकिन महर्षि दयानन्द जी ने इसका अर्थ बदला है। कहा 'एजति' का अर्थ होता है 'एजयति'। अन्तर्भावित 'णिच्' कहते हैं इसको। 'णिच्' प्रत्यय न होने पर भी 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ इसके अन्दर है। जैसे 'पठति'—पढ़ता है और 'पाठयति'—पढ़ाता है। लेकिन कभी-कभी 'पाठयति' के लिए 'पठति' शब्द का भी प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार महर्षि ने कहा है। परमात्मा चलता नहीं है वह चलाता है। क्यों ऐसा अर्थ किया? क्योंकि आगे कहा है 'तन्न-एजति' परमात्मा कभी भी चलायमान नहीं होता है। परमात्मा चलता नहीं है। पिछले मन्त्र में भी हमने देखा था, उसको हिलने के लिए कोई स्थान ही नहीं है तो चलायमान कैसे होगा? वह चलायमान नहीं होता है। लेकिन सारे संसार को परमात्मा चलाता है। परमात्मा स्वयं संसार को चलाता है या अपनी व्यवस्था से संसार अपने आप चल रहा है? परमात्मा सृष्टि का पालन करता है, सृष्टि का पालन करता है मतलब चलाता है। हर कार्य को परमात्मा स्वयं करता है, ऐसा नहीं है। लेकिन

कुछ कार्य ऐसे हैं, जिनको परमात्मा स्वयं ही करता है। उसको कोई दूसरा नहीं कर सकता है। जैसे किसी भी जीव को जन्म देना। यह व्यवस्था से नहीं है। परमात्मा साक्षात् उस जीव को मृत्यु के बाद एक शरीर से हटाकर दूसरे शरीर में माता-पिता के गर्भ में स्वयं भेजता है, व्यवस्था से नहीं। वह कार्य परमात्मा स्वयं करता है और धरती में यह जो गति है ? वैशेषिक दर्शन में 'अदृष्ट-कारितम्' बताया। धरती में जो गति है वह परमात्मा की व्यवस्था से है। परमात्मा इस सब संसार को बनाकर पालन करता है। कैसे विचित्र रूप में पालन करता है ? एक मन्त्र में महर्षि लिखते हैं :- जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं ऐसे ही सब लोक-लोकान्तरों को परमात्मा धारण करता है, बनाता है और इनको चलाता रहता है। अपने आप चलेंगे तो कभी न कभी बिगाड़ आ सकता है। कोई भी व्यवस्था अपने आप हमेशा के लिए नहीं चल सकती है। उसमें कोई न कोई न्यूनता आती है, त्रुटि होती है। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों में भी जो ऑटोमेटिक सिस्टम होते हैं, उनको बीच-बीच में रोककर मेन्टेनैन्स करते हैं, उनका रख-रखाव करते हैं। रख-रखाव तो उनकी सुरक्षा की दृष्टि से। मेन्टेनैन्स मतलब खराब होने से पहले निरीक्षण करके कमी को दूर करना होता है। हमेशा ठीक नहीं चलेगा। कोई भाग, कोई PARTS घिस जाता है या अन्य न्यूनता आती है तो अचानक कभी दुर्घटना हो सकती है अथवा मशीन, यन्त्र पूरा/अधिक क्षतिग्रस्त हो सकता है। निश्चित काल के अन्तराल में ठीक कार्यक्षम यन्त्र को भी देखना/न्यूनता को दूर करना आवश्यक होता है। कल्पना करिए कोई पंखा चौबीस घण्टे चलता है तो उसको बीच में कुछ काल के लिए बन्द करते हैं। उसको खोलते हैं, उसकी कमी को निकालते हैं, ठीक करते हैं। सब पुर्जे निकाल कर ठीक-ठाक करके फिर लगाकर रख देते हैं, फिर चलाते हैं उसको। कोई भी वस्तु अपने-आप गतिशील हो तो उसमें कुछ न कुछ न्यूनता, कमी आ जाती है। संसार यह एक अरब छियानवे करोड़..... वर्षों से चला

आ रहा है आगे भी और चलेगा। परमात्मा स्वयं इसका मेन्टेनैन्स करता है, पालन करता है, चलाता है। चलाने अर्थ में यहाँ है 'तद्-एजति' वह परमात्मा इस सब संसार में विद्यमान पदार्थों को चलाता है। संसार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। वैज्ञानिकों का कहना है परमाणु के अन्दर भी इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन हैं और प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन के चारों तरफ इलेक्ट्रॉन चक्कर काटते हैं हमेशा, हर क्षण। बहुत तेजी से वह गतिशील हैं। हर वस्तु गतिशील है। परमात्मा इन सभी पदार्थों में चाहे वह परमाणु कहिये, चाहे सत्त्व, रज, तम कहिये, इन में परमात्मा ने गति दी है और गति देकर इनको संचालित किया है। ऐसे गतिप्रदान किया है कि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक इनके अन्दर यह गति चलती रहेगी, संसार चलता रहेगा। परमात्मा ही चलाता रहता है। मन्त्र कहता है 'तद् एजति' वह परमात्मा सब संसार को चलाता है। 'तत्-न-एजति' और वह परमात्मा खुद कभी नहीं चलता है। उसके चलने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। हम आगे कदम बढ़ायेंगे, आगे यदि जगह है तब तो हम पैर रखते हैं, जगह ही नहीं तो कहाँ पैर रखेंगे? तो परमात्मा कूटस्थ नित्य है, परिपूर्ण है। इतना परिपूर्ण है उसको आगे रखने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। खालीस्थान हो तो चल सकता है, खाली स्थान ही नहीं है, जितना भी स्थान है सब परमात्मा के द्वारा परिपूर्ण है 'तद् न-एजति'।

आगे कहा — 'तद्-दूरे तद्-अन्तिके' यह सामान्य अर्थ तो हम जानते हैं — दूर से दूर परमात्मा विद्यमान है और 'अन्तिके' पास से भी पास परमात्मा विद्यमान है। जहाँ हम जीवात्माएं हैं वहाँ भी परमात्मा है और हम जितनी दूर तक कल्पना कर सकते हैं, सूर्य की दूरी लगभग पन्द्रह हजार करोड़ किलोमीटर है। यह तो हमारा सौरमण्डल का सूर्य है, जो दूसरा निकटतम सूर्य है, वह कितना दूर है। एक हजार प्रकाश वर्ष से भी ज्यादा दूर है। एक सूरज से दूसरा सूरज पर प्रकाश पहुँचने के लिए कितना समय लगता है? एक हजार वर्ष लगता है प्रकाश को

पहुँचने के लिए। जबकि एक सेकण्ड में प्रकाश तीन लाख किलोमीटर गति करता है। कल्पना नहीं कर सकते दिमाग चक्कर खा जाता है। कितनी दूरी है इन पदार्थों में? और हमारी यह जो आकाश गंगा है उसके एक छोर से दूसरे छोर तक प्रकाश को पहुँचने में एक लाख वर्ष लगता है। कल्पना करिए एक सेकण्ड में तीन लाख किलोमीटर जाता है, वह एक वर्ष में कितना दूर जायेगा? और उसको एक लाख वर्ष लगे तो? कितना फैला हुआ है यह संसार? हम कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। दूरी को समझाने के लिए मैं कह रहा हूँ। दूर इतने दूर पदार्थ हैं। और परमात्मा कैसा है? कहते हैं कि दूर से भी दूर है, जितनी दूर आप कल्पना कर सकते हैं? उससे भी दूर विद्यमान है। यह तो सामान्य शब्दार्थ हो गया कि परमात्मा नजदीक से नजदीक है, हमारे पास है, हमारे हृदय में हैं, हमारी आत्मा में है। और दूर से दूर जितनी हम कल्पना कर सकते हैं, वहाँ भी है।

महर्षि दयानन्द जी ने इसका अलग अर्थ किया है। महर्षि दयानन्द जी ने यह अर्थ किया कि जो विद्या, योगाभ्यास और धार्मिक आचरण करते हैं उनके तो निकट है परमात्मा और जिनके अन्दर अधार्मिकता है और जो विद्याभ्यास नहीं करते हैं और योगाभ्यास नहीं करते हैं, वे करोड़ वर्ष में भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने ऐसा लिखा है। मतलब संस्कार यदि किसी व्यक्ति के खराब हैं, उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो रही है वह व्यक्ति करोड़ वर्ष में भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, उसके संस्कार ही ऐसे हैं। कैसे अज्ञान में फंसा हुआ है? एक मनुष्य जन्म को हम सामान्य रूप से सौ वर्ष मानते हैं और करोड़ वर्ष मतलब लाख जन्म हो जायेंगे और मनुष्य योनि हो तो तब तो लाख जन्म, अन्य योनियाँ हो तो मनुष्य योनि से कम ही उमर होती है अधिकांश योनियों की, कुछ का अधिक है, तो इतने जन्म पार हो जाए, तो भी वे परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जो व्यक्ति अधर्म आचरण में पूरे डूबे हुये हैं, जो विद्या का पठन-पाठन नहीं करते हैं और जो योगाभ्यास

नहीं करते हैं, उनके लिए इतना दूर है परमात्मा। प्राप्त कर ही नहीं सकते और महर्षि ने इसी में ही लिखा है जो व्यक्ति विद्या पढ़ते हैं, योगाभ्यास करते हैं और धार्मिकता आदि आचरण से युक्त हैं, उनके बहुत समीप है, वे इस जन्म में भी परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं।

परमात्मा दूर से भी दूर और नजदीक से भी नजदीक, हमारे अत्यन्त समीप है। हमारे आधार पर है दूरी। यह स्थान की दृष्टि से या काल की दृष्टि से नहीं है, ज्ञान की दृष्टि से दूरी है। स्थान की दृष्टि से दूरी हम कहेंगे कि दिल्ली यहाँ से बहुत दूर है। वह स्थान की दृष्टि से दूरी है। दिल्ली यहाँ से नौ सौ किलोमीटर दूर है तो यह स्थान की दृष्टि से दूरी है। काल की दृष्टि से दूरी है अभी वर्षाऋतु है तो मैं कहूँगा शिशिर ऋतु तो बहुत दूर है, शिशिर ऋतु बहुत दूर है मतलब काल की दृष्टि से दूरी है। जब एक व्यक्ति कहता है गणित मुझसे बहुत दूर है अर्थात् गणित का ज्ञान मुझे नहीं है। तो परमात्मा स्थान की दृष्टि से दूर नहीं है, काल की दृष्टि से भी दूर नहीं है, किसकी दृष्टि से दूर है? ज्ञान की दृष्टि से दूर है। परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिए सब जगह है तो स्थान की दूरी है ही नहीं। किसी दूसरे स्थान में है, वहाँ पहुँचने में दूर है, ऐसा नहीं है। हमारे अन्तःकरण में विद्यमान है, आत्मा में विद्यमान है। काल की दृष्टि से भी नहीं है वह नित्य है। हर समय विद्यमान है परमात्मा। ऐसे नहीं कि मंगलवार आए तो परमात्मा की पूजा होगी, रविवार हो तभी पूजा होगी, पूर्णिमा, एकादशी में पूजा होगी, ऐसी स्थिति नहीं है। अथवा साल में कोई एक तिथि आती है, उसी तिथि में परमात्मा का प्रत्यक्ष होगा, ऐसा भी नहीं है। काल की दृष्टि से परमात्मा की कोई दूरी नहीं है। दूर है केवल ज्ञान की दृष्टि से। जो व्यक्ति अज्ञान अन्धकार में डूबा हुआ है, उससे करोड़ वर्ष दूर है अर्थात् तब तक प्राप्त नहीं करेगा। लेकिन कभी न कभी हर जीवात्मा परमात्मा की ओर बढ़ेगा ही। संसार में दुःख भोगते-भोगते जब व्यक्ति को पता लगेगा कि भाई

संसार बड़ा बेकार है, दुःखदायी है। तब वह ईश्वर की ओर मुड़ेगा। उस दिन उसकी ईश्वर की ओर यात्रा शुरू होगी और जो कहता है कि संसार में ही पूर्ण सुख है। सुख है यह तो सभी मानते हैं, दर्शनकार भी मानते हैं, लेकिन जो कहता है संसार में ही पूर्ण सुख है; सांसारिक सुख को ही प्राप्त करना जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। वह व्यक्ति अभी ईश्वर से दूर है, ईश्वर से विपरीत जाएगा। वह सांसारिक सुख प्राप्त करने के लिए अन्याय भी करेगा, अधर्म भी करेगा। इसलिए महर्षि ने लिखा जो अधर्म करता है, वह करोड़ वर्ष दूर है। इस प्रकार ईश्वर से दूरी बनती है। 'तद्-दूरे तद्-उ-अन्तिके'।

'तद्-अन्तरस्य सर्वस्य' संसार में जितने भी पदार्थ हैं, सबके अन्दर परमात्मा विद्यमान है। परमात्मा एक ऐसा विचित्र पदार्थ है वह हर पदार्थ के अन्दर विद्यमान है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो कण-कण में विद्यमान है। आकाश को एक तत्त्व मानते हैं, लेकिन उसका सकारात्मक कोई परमाणु या क्रियाशीलता नहीं है, जो अन्दर विद्यमान है। परन्तु परमात्मा ऐसा तत्त्व है जिसका हर गुण, हर परमाणु के अन्दर विद्यमान है। हमारे अन्दर, हमारी आत्मा में परमात्मा विद्यमान है और परमात्मा का सारा ज्ञान, सारा बल, सारा आनन्द हमारे अन्दर भी विद्यमान है। भेद क्या है? केवल हम अज्ञान के पर्दे को हटाएं तो परमात्मा के उन समस्त ज्ञान, बल आदि को हम प्राप्त कर सकते हैं। उसी को मन्त्र में कहा 'तद्-अन्तरस्य सर्वस्य' सबके अन्दर परमात्मा विद्यमान है। कण-कण के अन्दर विद्यमान है।

'तद्-उ-सर्वस्य-अस्य बाह्यतः' बाहर से बाहर और अन्दर से अन्दर सर्वत्र परमात्मा विद्यमान है, यह हमें अनुभव करना है। ईश्वर की हम उपासना करते हैं, ईश्वर का ध्यान करते हैं। तो कैसे अभ्यास करें? जब हम ध्यान के लिए बैठते हैं, एकाग्रचित्त होते हैं, परमात्मा का चिन्तन करते

हैं, परमात्मा का अर्थात् एक सर्वव्यापक तत्त्व को अपनी निकटता से अनुभव करना है। परमात्मा तो सब जगह व्यापक है। जैसे वायु मण्डल में भी जल विद्यमान है। लेकिन उस जल से हम लाभ नहीं उठा पाते हैं। हमको लाभ किससे मिलता है? जब हमारे पास ग्लास में जल आ जाए, टूटी में आ जाये तो उस जल का हम लाभ उठाते हैं। इस प्रकार परमात्मा सब जगह विद्यमान है लेकिन उसको जब हम अपनी अन्तरात्मा में अनुभव करते हैं, तब हमारी उपासना सफल होती है। मन्त्र में कहा 'तद्-अन्तरस्य सर्वस्य' शरीर के अन्दर भी परमात्मा है। लोग यही कहते हैं मूर्ति में भी परमात्मा है, तो मूर्ति की पूजा करने में क्या हानि है? मूर्ति के अन्दर परमात्मा है लेकिन उसके साथ आपका सम्बन्ध नहीं है। आपका सम्बन्ध तो आपके अन्दर है। तो आप अपने अन्तःकरण में, अपने हृदय में परमात्मा को अनुभव करके ध्यान करेंगे तो आपको उससे लाभ होगा। मूर्ति के अन्दर परमात्मा है, लेकिन मूर्ति परमात्मा नहीं है। यह हमको समझना है। यदि मूर्ति के अन्दर परमात्मा है, तो आपके अन्दर भी तो परमात्मा है। उसी हेतु से हम उन्हीं को कहते हैं कि जो आप कहते हैं मूर्ति के अन्दर है तो आपके अन्दर भी है। आपको दूर जाने की क्या आवश्यकता है? जो हमारे समीपस्थ है, जो निकटस्थ है, जो हमारे अन्दर ही विद्यमान है, उस परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना है। यह तो हो गया उपासना काल में और व्यवहार काल में 'तद्-दूरे तद्वन्तिके' वह दूर भी है, पास भी है अर्थात् मैं यदि अच्छा आचरण करूँ, तो मेरे नजदीक है परमात्मा और मैं यदि गलत आचरण करूँ तो? पीछे हमने देखा था असुर व्यक्ति कौन होता है? जो उल्टा आचरण करता है। वैसा उल्टा आचरण करूँ तो परमात्मा मुझसे दूर है और उससे विपरीत धार्मिक लोग, योगाभ्यासी, ऋषि-मुनि जैसे आचरण करते हैं तो परमात्मा उनके नजदीक है। एक व्यवहार काल के लिए हो गया और एक हमारा उपासना काल के लिए हो गया। दोनों अवस्था में अनुभव करने के लिए

यह मन्त्र बहुत उपयोगी है। परमात्मा हमको चलाता भी है और परमात्मा स्वयं नहीं चलता है। सतत परमात्मा प्रेरणा देता रहता है। लेकिन स्वयं चलता नहीं है, स्वयं कभी-भी हिलता नहीं है। तो मन्त्र का भाव पूरा हुआ। 'तदेजति' ईश्वर चलायमान नहीं होता है, संसार को चलाता है। 'तद् न-एजति' कभी स्वयं नहीं चलता है। 'तद्दूरे' जो अज्ञान, अन्धकार में डूबे हुये हैं, ऐसे लोगों से वह बहुत दूर है और 'तद्वन्तिके' जो धर्माचरण करते हैं, योगाभ्यास करते हैं, विद्या पठन-पाठन करते हैं, उनके समीप है, नजदीक है। 'तदन्तरस्य' वह सब पदार्थों के अन्दर से अन्दर जितने अन्दर हैं, उनमें विद्यमान हैं और 'तदु सर्वस्य बाह्यतः' वह सबसे बाहर है, बाहर से बाहर और जितने बाहर जा सकते हैं, सबसे बाहर परमात्मा विद्यमान है। सबसे अन्दर भी है, सबसे बाहर भी है। योगाभ्यास के काल में भी और व्यवहार काल में भी इस मन्त्र का अभ्यास कर सकते हैं। ओऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



पाँचवीं कक्षा

उपनिषद् की पाँचवीं कक्षा है। पीछे हमने चौथा और पाँचवाँ मन्त्र देखा था। उसके ऊपर कुछ पूछ लेते हैं। ज्ञानप्रकाश जी बताईये ‘अनेजदेकं’ इसका क्या अर्थ है ? कम्पन नहीं करता और गति नहीं करता है। ‘एकम्’ भी तो है ? ‘एकम्’ माने एक अकेला है। मनोज जी बताईये ‘मनसो जवीयो’ इसका क्या अर्थ है ? ईश्वर मन से अधिक वेगवाला है। कैसे वेगवान्, ईश्वर भी गति करता है क्या ? ईश्वर सब जगह पहले से पहुँचा हुआ है इसलिए उसको मन से भी वेगवान् कहा गया है। ‘नैनद्देवा-आप्नुवन्’ इसका क्या अर्थ है ? आप बताओ। इन्द्रियाँ भी उसको प्राप्त नहीं कर सकतीं। इन्द्रियाँ उस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती हैं तो फिर परमात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? इन्द्रियाँ तो प्राप्त नहीं कर सकती हैं, मन के माध्यम से समाधि में आत्मा को अन्दर ही उसका ज्ञान होता है। सुरेन्द्र जी बताईये जो मन्त्र का अन्तिम भाग है ‘तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति’ इसका क्या अर्थ है ? वायु हल्की होने के बावजूद भी भारी जल को ऊपर उठा लेती है। ‘तस्मिन्’ इसका क्या अर्थ है ? उसमें। किसमें यह बताओ ? ‘तस्मिन्’ का अर्थ हो गया ‘उसमें’ ? उसमें मतलब किसमें ? ईश्वर में। परमात्मा ऐसा सामर्थ्य वाला है, उसके अन्दर ऐसी स्थिति बनती है। एक और दूसरा अर्थ बताया था, जीव जो कर्म को धारण करता है, कर्म करता है वह परमात्मा के सामर्थ्य से, परमात्मा के अन्दर ही ये सब करता है। रवि जी बताईये ‘तदेजति तन्नेजति’ इसका क्या अर्थ है ? गति करता और कराता है। परमात्मा कैसे गति करता है ? वह हर जगह स्थित है, वह हर जगह स्थित होते हुये पहुँचा हुआ

है। सत्यनिष्ठ जी बताओ। परमात्मा कैसे गति करता है? लोगों को वह गति प्रदान करता है, चलाता है। अज्ञानी लोग यह समझते हैं कि वह भी चलता-फिरता होगा, जबकि वह पहले से ही पहुँचा हुआ है, वह स्वयं नहीं चलता परन्तु सारे लोक-लोकान्तरो को चलाता है। परमात्मा के लिए ऐसे आता है, वह गति करता है, गति के तीन अर्थ होते हैं। ज्ञान, गमन और प्राप्ति। वह पहले से सब जगह प्राप्त है। गति करता है मतलब प्राप्त है। जैसे हम गति करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते हैं, ऐसे परमात्मा पहले से ही पहुँचा हुआ है। परमात्मा दूर है, कहा — ‘तद्दूरे’। दूर में कैसे है परमात्मा? परमात्मा में कोई दूरी नहीं है। परमात्मा तो हर कण-कण में व्याप्त है। हम अपने मन से दूर का स्थान देते हैं। कृपासिन्धु जी परमात्मा दूर कैसे है? यहाँ स्थान की दूरी नहीं कही है अर्थात् जो अज्ञानी हैं उनके लिए दूर है। और पास में कैसे है? जो विवेकी हैं उनके लिए पास है। परमात्मा किससे दूर है और किसके नजदीक? जो पाप आचरण करता है उससे परमात्मा बहुत दूर है अर्थात् वह सैकड़ों, हजारों, लाखों वर्ष तक परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, यही परमात्मा की दूरी है और इसके विपरीत जो धार्मिक हैं उनके बहुत नजदीक है। ‘तद्-अन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य-अस्य बाह्यतः’ समीप से समीप हमारे निकट में जो पदार्थ हैं, उनमें सबसे निकट परमात्मा है। एक उपनिषद् में चर्चा आई है कि सबसे ऊपर यह जो हमको दिख रहा है यह अन्नमय कोश होता है, उसके अन्दर प्राणमय कोश, उसके अन्दर मनोमय कोश, उसके अन्दर विज्ञानमय कोश, उसके अन्दर आनन्दमय कोश और आनन्दमय कोश के अन्दर जीवात्मा ठहरता है, ऐसे बताया है। तो यह आनन्दमय कोश जीवात्मा के समीप हो गया और विज्ञानमय कोश थोड़ा उससे बाहर हो गया। ऐसे ही बाहर-बाहर जायेंगे, तो जितने भी पदार्थ हैं उन सबसे बाहर भी परमात्मा है, जहाँ संसार नहीं है, वहाँ

भी परमात्मा है और अन्दर-अन्दर जायेंगे, तो जितना समीप हम जायेंगे, सबसे समीप परमात्मा ही है ।

ओम् स्वामी जी ! किसी ने किसी से सौ रूपये प्राप्त किये, अन्याय से, भ्रष्टाचार से या जबरदस्ती से, तो वह सौ रूपये की क्षति-पूर्ति सौ रूपये से ही करेगा अथवा उससे कई गुना होगी ? कई गुना होगी । एक बोरी चना हम डालते हैं, तो फसल एक बोरी ही नहीं उससे अधिक मिलती है । किसी ने सौ रुपए चुराए अब उसको जाके वापस दे देवे । भले ही थोड़ा अपमान हो, क्षमा माँग ले, तो बात सहजता से, सस्ते में छूट जायेगी और नहीं तो पुलिस के पास जाएंगे तो अधिक दण्ड मिलेगा और पुलिस के पास भी नहीं गये, किसी को पता ही नहीं चला तो ईश्वर की तरफ से बहुत दण्ड मिलेगा । हम स्वयं भी दण्ड ले सकते हैं, प्रायश्चित्त कर सकते हैं अथवा माता-पिता, गुरु-आचार्य भी दण्ड दे सकते हैं, राजा-न्यायाधीश भी दे सकते हैं, समाज की ओर से भी मिल सकता है, इनमें से किसी से नहीं मिला तो फिर परमात्मा से मिलता है, परमात्मा से जब मिलता है कई गुना होकर मिलता है । पुरस्कार भी ऐसे ही मिलता है । हमारे कर्म का फल हमने दूसरों से ले लिया । कर्म किया उसके बदले में हमने ले लिया, जितना किया उतना ले लिया । पुण्य कुछ भी नहीं मिलेगा और यदि हमने किसी से कुछ नहीं लिया, किसी ने कुछ दिया भी नहीं, तो बचा हुआ है परमात्मा देगा, कई गुना करके देगा, पुण्य भी ऐसे ही, पाप भी ऐसे ही ।

दूसरों को मारने से अलग दण्ड मिलेगा, अपने आपको मारने से अलग दण्ड मिलेगा । पाप दोनों हैं । अपने शरीर को भी नष्ट करें तो भी पाप लगता है और दूसरों के शरीर को नष्ट करें तो भी पाप लगता है । दोनों का पाप बराबर है क्या ? बराबर नहीं है, अलग-अलग है । कौन सा ज्यादा है, कौन सा कम है पूरा-पूरा नहीं कह सकते, सम्भावना तो हम कर सकते हैं लेकिन पूरा-पूरा नहीं कह सकते हैं । यह जानिए — क्योंकि

मनुष्य जन्म सबसे दुर्लभ है और उसको कोई नष्ट करता है तो उसका भयंकर दण्ड मिलेगा यह नियम है ।

छठा मन्त्र :-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

‘यः’ का अर्थ यहाँ कर्ता में है जो मनुष्य । ‘तु’ = तो निश्चित रूप से । ‘सर्वाणि भूतानि’ सब भूतों को । ‘आत्मनि—एव—अनुपश्यति’ आत्मा के अन्दर ही देखता है ।

यह विशेष मन्त्र है । सबसे पहले हमने ‘ईशा वास्य’ मन्त्र में देखा । ईश्वर को सर्वव्यापक बताया था । पिछले मन्त्र में हमने देखा था कि ईश्वर अन्दर से अन्दर, बाहर से बाहर, दूर भी है, समीप भी है सर्वव्यापक बताया । इस मन्त्र में भी ईश्वर को सर्वव्यापक बता रहे हैं । इससे मन्त्रों में ‘जामित्व दोष’ नहीं आता है । जामित्व दोष क्या होता है ? मीमांसा दर्शन में ऐसा आया कि देवताओं के लिए आहुति देते समय यदि दूसरी आहुति थोड़ा बदलकर दे दें तो जामित्व दोष नहीं आता है । हवि द्रव्य बदलकर आहुति देने से वह जामित्व दोष नहीं आता है । तो जामित्व का मतलब होता है अरुचि । इसलिए बार-बार परमात्मा के एक ही गुण को भी बतायें, तो उसमें अरुचि की बात नहीं है । इस मन्त्र में भी सर्वव्यापक की चर्चा करते हैं । जो सभी भूतों में, और सभी भूतों को परमात्मा के अन्दर देखता है । किस धातु से बना है ‘भूत’ शब्द ? ‘भूः सत्तायाम्’ । क्या अर्थ होता है ? सत्ता, उसका होना । ‘भू’ शब्द का अर्थ होता है अस्तित्व, होना । अस्तित्व वाले जितने भी पदार्थ हमारे सामने हैं, जिनकी भी सत्ता है उनको भूत कह सकते हैं । हमारे सामने दो प्रकार के पदार्थ हैं — एक जड़ पदार्थ हैं, दूसरा चेतन पदार्थ हैं । ‘सर्वाणि भूतानि’ सारे भूत, ये पाँच महाभूत तो हैं ही, इसके साथ-साथ अन्य जो प्राणी-अप्राणी

जगत् सबको भूत शब्द से कहते हैं। शास्त्र में 'भूत' शब्द अनेक अर्थों में प्रयोग होता है, यहाँ जड़-चेतन सभी पदार्थों के लिए 'भूत' शब्द प्रयोग किया है। 'सर्वाणि भूतानि' सभी भूतों को (ये द्वितीया बहुवचनान्त हैं) 'आत्मनि-एव-अनुपश्यति' 'आत्मनि' में सप्तमी है। आत्मा के अन्दर, परमात्मा के अन्दर 'अनु-पश्यति' देखता है। 'पश्यति' का अर्थ देखता है और 'अनुपश्यति' 'अनु' शब्द यह जो एक उपसर्ग है, इसके बहुत अर्थ हैं, उनमें से एक अर्थ 'वीप्सा'। 'वीप्सा' अष्टाध्यायी में एक सूत्र है 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' यह 'अनु' उपसर्ग जो है, चार अर्थ में हो सकता है — लक्षण, इत्थंभूत, भाग और वीप्सा।

ईप्सा का क्या अर्थ है? इच्छा। और 'वि' उपसर्ग जोड़ दिया वीप्सा। विशेष इच्छा। प्रत्येक की जब इच्छा करते हैं तो उसको वीप्सा कहते हैं। जैसे कह दिया यहाँ जितने व्यक्ति बैठे हैं, हर एक व्यक्ति को लड्डू दो। हर-एक व्यक्ति को देना, यह वीप्सा है। जैसे मनोज जी पेड़ में पानी लगा रहे हैं। यह सामान्य इच्छा हो गई कि पेड़ में पानी लगा रहे हैं। लेकिन जब वह चाहेंगे कि मैं हर-एक पेड़ में पानी दूँ एक भी पेड़ छूट न जाये, तो उसको कहते हैं 'वीप्सा'। हर-एक की जो इच्छा है उसको कहते हैं वीप्सा। (व्याकरण बहुत काम आता है शास्त्र को पढ़ने में, समझने में।) 'पश्यति' देखता है और 'अनुपश्यति' का अर्थ होता है, एक-एक पदार्थ को परमात्मा के अन्दर देखता है। अब देखो यह हम सामान्य रूप से शाब्दिक रूप से तो जानते हैं परमात्मा सर्वव्यापक है। उसी के अन्दर हम सब डूबे हुये हैं, लेकिन जैसे हमको लगता है कि हर वस्तु (धरती में हम जिसको भी देखते हैं) वायु मण्डल के अन्दर ही है ऐसे हर वस्तु ईश्वर के अन्दर है, ईश्वर के अन्दर डूबी हुई हैं। ऐसे जो व्यक्ति 'अनुपश्यति' देखता है। 'अनु' का एक अर्थ होता है 'पश्चात्'। पहले हम किसी को देखते हैं, तो पहले उस व्यक्ति का रूप दिखेगा। अब उसके बाद उसको हम परमात्मा के अन्दर देखते हैं। यह भी अर्थ कर

सकते हैं, पश्चात् अर्थ भी कर सकते हैं। वस्तु को पदार्थ को जानने के बाद उसको ईश्वर के अन्दर देखता है। 'आत्मनि-एव-अनुपश्यति' आत्मा के अन्दर ही यह वस्तु, यह पदार्थ विद्यमान है। ऐसा जो व्यक्ति देखता है 'यस्तु पश्यति'। आगे कहते हैं कि 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' और सभी भूतों में मतलब (पहले शब्द में 'सर्वाणि भूतानि' यहाँ द्वितीया थी सभी भूतों को) यहाँ 'सर्वभूतेषु' सप्तमी कर दी। सभी भूतों में, सभी पदार्थों में 'आत्मानम्-अनुपश्यति' जुड़ेगा। सभी भूतों में परमात्मा को देखता है। पहले क्या अर्थ था ? सभी पदार्थों को परमात्मा के अन्दर देख रहा था और अब सभी पदार्थों के अन्दर परमात्मा को देखता है। परमात्मा ऐसा विचित्र पदार्थ है, वह सबके अन्दर है और सब कुछ उसके अन्दर भी है। कल्पना करिए आपने किसी डिब्बे के अन्दर कोई वस्तु रखी, डिब्बे के अन्दर जो वस्तु है, डिब्बा उसके अन्दर नहीं रह सकता है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं मिलेगा जो सबके अन्दर है और सब उसके अन्दर हैं। आकाश को भी ऐसा कहा जाता है और आकाश पदार्थ की दृष्टि से परमाणु एवं क्रिया रहित है, वह तो अलग बात है। बाकी परमात्मा एक ऐसा सत्तात्मक पदार्थ है, जो सबके अन्दर विद्यमान है और सब संसार उसके अन्दर विद्यमान है। ये बातें केवल हमको सुनने से स्पष्ट नहीं होती हैं। जब इनको श्रवण के बाद मनन करते हैं, विचार करते हैं फिर वैसे हम निश्चय करते हैं, अनुभव में लाने का प्रयत्न करते हैं, तब ये बातें धीरे-धीरे बुद्धि में जम जाती हैं, अभ्यास करके देखिए। यदि आप एक मन्त्र को भी दिन-भर में अभ्यास करेंगे, तो आपको बहुत लाभ होगा। आध्यात्मिक प्रगति का मूल मन्त्र यही है। परमात्मा के अन्दर सभी पदार्थों को देखना और परमात्मा सबके अन्दर विद्यमान है यह बात देखना। यह हमारी आध्यात्मिक उत्कर्षता को जीवन में ले आता है। जो व्यक्ति हर पदार्थ के अन्दर परमात्मा को और परमात्मा के अन्दर हर पदार्थ को देखता है। उससे क्या होता है ? कहते हैं 'ततो न विजुगुप्सते'

उससे, उसके बाद 'न विजुगुप्सते' जुगुप्सा नहीं करता है। 'जुगुप्सा' का सामान्य रूप से अर्थ है घृणा। घृणा किससे करते हैं? पाप से घृणा करते हैं, निन्दित कर्म से घृणा करते हैं। ईश्वर को ऐसे देखने से पाप कर्म से बचा जाता है। यह इस मन्त्र का मुख्य अभिप्राय है। जब हम हर पदार्थ को ईश्वर के अन्दर देखते हैं और ईश्वर हर पदार्थ के अन्दर विद्यमान है। कोई भी पदार्थ हो चाहे वह जड़ वस्तु हो, चाहे चेतन हो, उसके साथ हम दुर्व्यवहार नहीं कर सकते, निन्दित आचरण नहीं कर सकते।

व्याकरण की दृष्टि से देखेंगे तो बड़ा व्यापक अर्थ है इसका। दो धातु हैं एक तो 'गुप् रक्षणे' और 'गुप गोपने'। गोपनीय करना = छुपाना। किस चीज को हम छुपाते हैं? सत्यनिष्ठ जी! हम अच्छे कर्म करते हैं, उसको छुपाना चाहते हैं क्या? नहीं। और कोई बुरा कर्म कर दें तो? उसको छुपाना चाहते हैं। पाप कर्म जो व्यक्ति करता है उसको छिपाकर रखना चाहता है। क्यों छिपाना चाहते हैं? अपमान होगा। यदि हमारा दोष, हमारा पाप, हमारा निन्दनीय कर्म प्रकट हो जाए, तो सब लोग हमसे घृणा करेंगे, निन्दित दृष्टि से देखेंगे, नीची दृष्टि से देखेंगे। इसलिए वह छिपाना चाहता है। 'जुगुप्सा' का दूसरा अर्थ निन्दा भी होता है। 'निन्दा' अर्थ में यहाँ 'सन्' प्रत्यय माना गया है। 'विजुगुप्सते' अर्थात् निन्दित कर्म करता है और मन्त्र में 'न' पढ़ा हुआ है, तो अर्थ हुआ वह निन्दित कर्म नहीं करता है, पाप कर्म नहीं करता है। परमात्मा को जो व्यक्ति कण-कण में देखता है और हर-एक के अन्दर परमात्मा को देखता है, वह पाप कर्म कर ही नहीं सकता। जैसे आप देखिए कभी अग्नि में हम जानबूझ कर हाथ नहीं डालते हैं। क्यों नहीं डालते? हमको पता है कि यदि अग्नि में हाथ डालें तो हाथ जल जायेगा। वह दुःख हमको दिखता है। ऐसे ही हम पाप कर्म करते हैं? जब हमारा ज्ञान ऐसा बनता है कि इसका फल जो मिलेगा, कम दुःख मिलेगा, उससे ज्यादा सुख मुझे मिलेगा। व्यक्ति पाप कर्म, गलत कर्म, निन्दनीय कर्म जब भी करता है

उसके मस्तिष्क में यह रहता ही है कि इस कर्म का जो फल है वह मुझे कम दुःख देगा और इसको करके मैं ज्यादा सुख प्राप्त कर सकता हूँ। सिद्धान्त के रूप में हम जानते हैं। पाप कर्म का फल दुःख है लेकिन वह अभी हमारे तत्व ज्ञान के रूप में नहीं है हमारे अनुभव के स्तर पर नहीं आया है इसलिए वह व्यवहार हमारा उल्टा होता है। जहाँ भी हम उल्टा व्यवहार करते हैं तो इसका मतलब है कि उस विषय में हमारा ज्ञान स्पष्ट नहीं है। किसी भी प्रकार से यदि गलत काम हम करते हैं इसका मतलब हमको वहाँ दुःख दर्शन नहीं होता है अथवा उसमें कम दुःख दिखता है और उस समय गलत कर्म करके ज्यादा सुख प्राप्त कर लूँगा ऐसा दिखता है।

याद रखना है जब तक हमें कण-कण में परमात्मा का ज्ञान, बोध नहीं होता है तब तक हम पाप से बच नहीं सकते। परमात्मा का कण-कण में बोध होगा तो व्यक्ति पाप से छूट सकता है। यह अन्तिम उपाय है। यदि कह दिया जाए पाप करें तो उसके बदले में कोई दण्ड नहीं मिलेगा तो पाप करने से कोई रुकेगा नहीं। पाप कर्म से हम कब डरते हैं ? जब पाप प्रकट हो जायेगा, तो उससे हमको बड़ा डर लगता है। पाप से उतना भय नहीं होता है जितना मेरा पाप किसी दूसरे को पता चल जाने पर होता है। मन्त्र में यही कहा है कि जो सभी पदार्थों को परमात्मा के अन्दर देखता है और सभी पदार्थों में परमात्मा को देखता है उसके बाद पाप आचरण नहीं करता है। परमात्मा को देखता है 'मतलब' परमात्मा के साथ बाकी सभी बातें भी जुड़ी हुई हैं। कौन सी बातें ? एक तो इसी मन्त्र में बताई कि परमात्मा सर्वव्यापक है। परमात्मा के लिए और दो विशेषण बहुत प्रसिद्ध हैं एक सर्वव्यापक दूसरा सर्वज्ञ तीसरा सर्वशक्तिमान्। परमात्मा को सर्वव्यापक जहाँ बताते हैं, वहाँ परमात्मा सर्वज्ञ भी है। जड़ वस्तु के सामने हमको डर नहीं लगता है। चेतन से हमको डर लगता है। कोई आदमी देख ले तो हम डरते हैं।

जड़ वस्तु से क्या डर लगता है ? कोई डर नहीं लगता है । परमात्मा सर्वज्ञ है । जहाँ परमात्मा कण-कण में विद्यमान है, वहाँ परमात्मा सब कुछ जानता भी है । हम कुछ भी करते हैं वह सब परमात्मा जानता है और तीसरी बात सर्वशक्तिमान् यह भी परमात्मा के साथ जुड़ी हुई है, हमारे सामने यदि कोई दुर्बल व्यक्ति है, निर्बल व्यक्ति है तो हमें उससे कोई डर नहीं लगता । डर कब लगता है जब हमसे कोई ज्यादा बलवान हो, धार्मिक व्यक्ति को छोड़ दीजिए । धार्मिक व्यक्ति तो दुर्बल व्यक्ति के प्रति भी अन्याय नहीं करता है । लेकिन जो अधार्मिक व्यक्ति है, वह व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति से नहीं डरता है, दुर्बल व्यक्ति हो तो उसके साथ अधर्म आचरण करके सुख प्राप्त करना ही चाहता है, लेकिन कोई उससे बलवान आ जाए, तो उससे वह दूर हटता है । वह जानता है, यह व्यक्ति मुझको दुःख पहुँचाएगा, नष्ट कर देगा, मार देगा, दण्ड देगा । ऐसे ही परमात्मा जब सर्वव्यापक है, वह सब कुछ जानता भी है और सर्वशक्तिमान् है । अनन्तशक्ति परमात्मा में विद्यमान है, हम उसके सामने पाप करके कभी बच नहीं सकते । यह बोध जब होगा तब व्यक्ति पाप-आचरण से बच सकता है ।

दूसरी बात है — निन्दा करना । परमात्मा की निन्दा कौन करते हैं ? निन्दा करना और प्रशंसा करना यह जुड़ा हुआ है । हम प्रशंसा किसको कहते हैं और निन्दा किसको कहते हैं ? प्रशंसा का अर्थ किसी वस्तु में जो-जो गुण हैं उसको हम प्रकट करते हैं तो उसकी प्रशंसा हो गई और उस वस्तु में जो गुण नहीं हैं, उसको हम निन्दित बताते हैं अथवा हम दोष बताते हैं । दोष नहीं है लेकिन हम दोष बताते हैं, तो वह निन्दा के अन्तर्गत आता है । परमात्मा की निन्दा कौन करते हैं ? हम करते हैं या नहीं करते हैं ? क्या विचार है आपका ? जहाँ-जहाँ हम परमात्मा के नियमों का भंग करते हैं, वहाँ-वहाँ हम निन्दा करते हैं । निन्दा करना, अपमान करना । एक ही बात है । पिताजी को कोई बहुत बार नमस्ते

करता है और पिताजी कहते हैं एक गिलास पानी दे दो । वह कहता है पानी आप अपने आप ले लो । यह पिता जी का अपमान हुआ या नहीं हुआ ? पिताजी की निन्दा हुई । पिताजी कहना और प्रणाम करना इतना मात्र ही उनकी प्रशंसा नहीं है । उनको पिता के रूप में स्वीकार करना, प्रणाम करना, उनके साथ उनकी आज्ञाओं का पालन करना । जहाँ-जहाँ हम परमात्मा के नियमों का भंग करते हैं वहाँ-वहाँ हम परमात्मा का अपमान करते हैं, निन्दा करते हैं । ये सभी के अन्दर हैं योगियों को छोड़ दीजिए । सबके अन्दर थोड़ा-बहुत कहीं न कहीं मिलता है । अब देखिए बहुत बड़ा धार्मिक व्यक्ति है, आध्यात्मिक संगठन में जुड़ा हुआ है, काम करता है । लेकिन उसके घर में कोई दुर्घटना हो जाए, किसी की मृत्यु हो जाए, तो उसके मन में क्षण-भर के लिए भी विचार यदि आया कि परमात्मा आपने मेरे साथ ऐसे अन्याय क्यों किया ? यह परमात्मा की निन्दा हुई या नहीं हुई ? परमात्मा कभी-भी किसी के साथ अन्याय नहीं करता है । यदि वह कहे देखो मैंने जीवन भर अच्छा कर्म किया, जीवन भर किसी को दुःख नहीं दिया, जीवन भर परोपकार में ही लगा रहा, जीवन भर परमात्मा की भक्ति की, स्तुति, प्रार्थना, उपासना, ध्यान सब कुछ किया । मेरे साथ ऐसे कष्ट, मेरे साथ ऐसे अन्याय, मेरे ऊपर ऐसी बाधाएँ क्यों आई ? ऐसा विचार आता है, तो क्या होगा ? परमात्मा की निन्दा, परमात्मा का अपमान । परमात्मा ऐसा कभी नहीं करता है । हमारे अन्दर भी कोई कमी आ जाए ! हमारे जीवन में, हमारे शरीर में, हमारे स्वास्थ्य में, हमारे मन में, हमारी विद्या में, हमारी बुद्धि में, कभी लगता है या नहीं लगता है ? कि मुझे परमात्मा ऐसे घर में क्यों जन्म दे दिया । दूसरे लोग देखो कैसे-कैसे हैं ? उनके माता-पिता इतने बढ़िया हैं । मुझे ऐसे घर में क्यों जन्म दे दिया । यह क्या है ? परमात्मा की निन्दा है । जो व्यक्ति सब भूतों को परमात्मा के अन्दर देखता है और परमात्मा सबके अन्दर विद्यमान है ऐसे दिखता है वह कभी-भी परमात्मा की निन्दा नहीं

कर सकता है। निन्दा की भावना कैसे हटेगी? क्या केवल परमात्मा को सर्वव्यापक देखने मात्र से निन्दा की भावना दूर हो जायेगी? सर्वव्यापक के साथ-साथ जुड़ा है परमात्मा सर्वज्ञ है, परमात्मा सर्वशक्तिमान है, परमात्मा न्यायकारी है। वह कभी भी अन्याय नहीं करता है। जो व्यक्ति हर वस्तु में परमात्मा को देखता है, अनुभव करता है, अभ्यास करता है, अपने प्रति कोई भी दुःख, कष्ट, बाधा, पीड़ा आये, वह कभी परमात्मा को दोष नहीं दे सकता है। क्यों? वह जानता है, परमात्मा न्यायकारी है। मेरे साथ जो भी अन्याय हुआ है वह परमात्मा की ओर से नहीं मानेगा। वह परमात्मा को दोषी नहीं ठहराता। वह कभी-भी निन्दा नहीं कर सकता। सृष्टि की रचना में परमात्मा की निन्दा नहीं करेगा।

अनेक लोग कहते हैं परमात्मा सब जगह व्यापक है, आज भारत में वैदिक धर्म को छोड़ दीजिए। इसके अतिरिक्त जितने भी अवैदिक मत, पन्थ सम्प्रदाय भारत में और जो भारत से बाहर हैं। सारे सम्प्रदाय ईश्वर को एकदेशी मानते हैं, एक स्थान पर मानते हैं। वेद को जो मानते हैं उनको छोड़ दीजिए। वेद को मानने वाले ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं। जो मत, पन्थ सम्प्रदाय वेद को नहीं मानते हैं, वे सभी सम्प्रदाय ईश्वर को एकदेशी मानते हैं। वे कहते हैं आप घर में बैठे रिमोट कंट्रोल चलाते हैं तब टी.वी. चलता है। यहाँ बैठे-बैठे वैज्ञानिक रिमोट चलाते हैं सेटेलॉइट काम करते हैं। जब हम अल्प शक्तिमान् होकर एक स्थान पर बैठकर दूसरे स्थान पर काम कर देते हैं, तो परमात्मा सर्वशक्तिमान है, वह एक स्थान पर बैठकर रिमोट कंट्रोल से क्यों नहीं कर सकता? हम जो भी रिमोट कंट्रोल में चलाते हैं वहाँ हम साधनों का प्रयोग करते हैं। परमात्मा सर्वशक्तिमान है। वह प्राकृतिक साधन का प्रयोग कभी नहीं करता है। परमात्मा न किसी को दूत के रूप में भेजता है कि यह मेरा प्रतिनिधि है। ऐसा कोई पैगम्बर, ऐसा कोई दूत, ऐसा कोई धर्मोपदेशक

अपनी ओर से वह नहीं भेजता है। अपने कार्य करने के लिए वह किसी जड़ वस्तु की सहायता नहीं लेता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आता है। **न तस्य कार्यं करणं च विद्यते** — उसका कोई करण नहीं है। हमारे पास हाथ हैं, करण के रूप में, आँख हैं, कान हैं, नाक है। उसका कोई करण नहीं है। बिना करण के कार्य सर्वव्यापक ही कर सकता है। अन्य जो एकदेशी है वह साधनों के माध्यम से ही काम कर सकता है, परमात्मा सर्वव्यापक है। एक जगह बैठकर काम नहीं करता है यह उसका स्वभाव है, उसके ऊपर क्यों प्रश्न नहीं उठा सकते ? उसका स्वभाव ही है वह सर्वव्यापक है और उसके जितने भी ज्ञान, बल, क्रिया हैं वे सब स्वभाविक रूप से ही हैं। सर्वव्यापक उसका परिमाण है। कितना व्यापक है ? सर्वव्यापक है। सब जगह विद्यमान है। परमात्मा एक जगह नहीं है और जो लोग परमात्मा को, ईश्वर को, एकदेशी मानते हैं, एक स्थान पर मानते हैं; उनके मत में सृष्टि को प्रारम्भ करने का दोष आयेगा। सृष्टि प्रारम्भ करने में जब परमात्मा एकदेशी है तो उसी स्थान में बैठे-बैठे पूरे संसार को कैसे बनाया ? अब तो सृष्टि है, व्यवस्था है। व्यवस्था से चल रही है। ऐसे मानते हैं वे लोग। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में (वैदिक मत में) सत्त्व, रज, तम के जो परमाणु हैं उनमें परमात्मा गति प्रदान करता है। परमात्मा खुद वहीं विद्यमान है और वहाँ गतिप्रदान करता है। जो ईश्वर को सर्वव्यापक जानता है, जो कण-कण में प्रभु की रचना को देखता है, प्रभु की शक्ति को देखता है, प्रभु की महत्ता को देखता है, प्रभु का ज्ञान देखता है, प्रभु की विद्यमानता देखता है प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता और प्रभु के न्यायकारी गुण को देखता है; वह परमात्मा की कभी-भी निन्दा नहीं करेगा। वह कभी पाप नहीं करेगा, वह कभी किसी से घृणा नहीं करेगा। वेद मन्त्र में इस शब्द (विजुगुप्सते) के स्थान पर दूसरा शब्द है 'विचिकित्सति'। विचिकित्सा का अर्थ होता है 'संशय'। जो व्यक्ति परमात्मा को सब जगह देखता है, उसको कभी

संशय नहीं होता है । वेद मन्त्र में यही बात बताई है । उसके मन में संशय उत्पन्न नहीं होगा । किसके मन में ? जो व्यक्ति कण-कण में परमात्मा को देखता है और जो परमात्मा के अन्दर सबको डूबा हुआ देखता है उसके मन में ऐसा संशय नहीं होता है, उसके मन में ऐसे प्रश्न नहीं उठेंगे कि वास्तव में कर्म का फल मिलेगा या कभी नहीं भी मिलेगा ? सब संशय उसका दूर हो जाता है ।

अगला मन्त्र —

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

कहते हैं कि — ‘यस्मिन्’ जिसमें । अर्थात् जिस व्यक्ति में, योगी में, ध्यानी में । महर्षि दयानन्द जी ने इसका अर्थ किया । जिस परमात्मा में और जिस ज्ञान में जिस धर्म में । ‘सर्वाणि भूतानि’ सभी भूत ‘आत्मा-एव-अभूत्’ आत्मा ही हो गया । ‘विजानतः’ का अर्थ होता है ‘विद्वान्’ । विशेष रूप से जानने वाला । जो व्यक्ति विशेष रूप से जानता है उसको ‘विजानतः’ कहते हैं । ‘विजानतः’ विद्वान् व्यक्ति, योगी व्यक्ति । वह हर पदार्थ को, व्यक्ति को, अपने आत्मा के तुल्य देखता है । जैसे मुझे सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, ऐसे सामने वाले को भी सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है । मुझे अनुकूल व्यवहार अच्छा लगता है, प्रतिकूल व्यवहार अच्छा नहीं लगता है । वह सामने वाले को भी ऐसे ही समझता है । हर व्यक्ति को वह आत्मा के समान देखता है, आत्मा के समान मानता है । किसी की निन्दा अपमान नहीं करता है । किसी को भी बड़ा छोटा नहीं मानता है, वह आत्मा की दृष्टि से सबको समान देखता है । आत्मा का जो मौलिक धर्म है, आत्मा का जो मौलिक गुण है, वह सब के अन्दर बराबर है । आपके अन्दर भी इच्छा है, मेरे अन्दर भी इच्छा है । भूख लगती है तो भोजन करने की इच्छा आपके अन्दर भी है और मेरे अन्दर भी

है। उस इच्छा में मौलिक भेद नहीं है। लेकिन कोई रोटी खाने की इच्छा करता है, कोई चावल खाने की इच्छा करता है, कोई खीर खाने की इच्छा करता है, कोई हलुआ खाने की इच्छा करता है। इस इच्छा में तो भेद है लेकिन भूख लगे तो भोजन करने की जो इच्छा है उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। हर आत्मा के लिए मौलिकता की दृष्टि से सबको तुल्य मिलना चाहिए, सबको भोजन मिलना चाहिए, सबको वस्त्र मिलना चाहिए, सबको आवास मिलना चाहिए, ये मौलिक आवश्यकताएँ हैं। इतना तो सबके लिए समान होना चाहिए। उसके बाद जिसकी जितनी योग्यता है, उसके आधार पर भेद हो सकता है। अब कोई व्यक्ति अंग्रेजी जानता है तो अंग्रेजी ही पढ़ा सकता है, कोई संस्कृत जानता है तो संस्कृत ही पढ़ा सकता है। हम कहेंगे दोनों बराबर हैं तो यह संस्कृत पढ़ा दे, वह अंग्रेजी पढ़ा दे। ऐसे नहीं होगा, वहाँ तो भेद रहेगा। लेकिन मौलिक आवश्यकता की दृष्टि से सब तुल्य हैं। जैसे हम आत्मा को समझते हैं, अपने आप के लिए जो अपेक्षा रखते हैं कि मेरा कोई अपमान न करे, यह इच्छा मैं रखता हूँ। तो मेरा भी मौलिक कर्तव्य बनता है कि मैं दूसरों का अपमान न करूँ। मैं अपने लिए जैसे उन्नति की इच्छा रखता हूँ, वैसे दूसरों की उन्नति की इच्छा रखूँ। कहते हैं — ‘यस्मिन् सर्वाणि भूतानि—आत्मा—एव—अभूत्’ आत्मा के समान ही हो गया, मानो वह अपने जैसे ही मानता है। संसार में कई सारे व्यक्तियों को मैंने देखा, बहुत बड़े हैं, हमसे अधिक विद्वान् हैं, हमसे अधिक सेवाभावी हैं, हमसे अधिक परोपकारी हैं। लेकिन कभी हम उनके साथ जाते हैं, वे बिल्कुल आत्मवत् व्यवहार करते हैं, तुल्य व्यवहार करते हैं। अपना आसन छोड़कर हमें बैठा देते हैं। ऐसे तुल्य व्यवहार करने वाले लोग आज भी संसार में विद्यमान हैं। जो व्यक्ति योगाभ्यास करता है, वह निरभिमानी होता ही है। योगाभ्यासी का यह लक्षण है। वह निरभिमानी होता है, वह अपने समान दूसरों के साथ व्यवहार करता है। जैसी अपनी उन्नति चाहता है,

वैसी ही दूसरों की उन्नति चाहता है। यह आत्मतुल्य व्यवहार है। केवल अपनी उन्नति चाहता है, दूसरों की उन्नति नहीं चाहता है, वह 'विज्ञानतः' नहीं होगा। वह विद्वान् नहीं हो सकता है, वह योगी नहीं हो सकता। जो अपनी उन्नति के समान दूसरों की उन्नति चाहता है, उसको कहते हैं 'विज्ञानतः'। विशेष रूप से जानने वाला विज्ञानी, विद्वान्। महर्षि दयानन्द जी ने तो इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए भावार्थ में लिखते हैं — जो संन्यासी, योगी, विद्वान् जो भी इस स्तर पर पहुँचते हैं, वह अपनी आत्मा के तुल्य सबके साथ व्यवहार करते हैं। स्वामी सत्यपति जी तो छोटे से छोटा पाँच साल का बच्चा भी हो, तो उसके नाम के साथ 'जी' लगाकर बोलते थे। यह केवल मैंने स्वामी जी (स्वामी सत्यपति जी) की परम्परा में ही देखा है कि अपने शिष्य को भी सब 'जी' लगाकर बोलते हैं। ऐसे अन्य कहीं पर मैंने नहीं देखा। केवल स्वामी जी और उनसे पढ़े हुए लोग जो हैं, वे अपने छात्रों को भी, अपने विद्यार्थी, शिष्यों को भी 'जी' लगाकर बोलते हैं। यह आत्मवत् व्यवहार आत्मा के तुल्य दूसरों का सम्मान करना। स्वामी (सत्यपति) जी बताते थे कि छोटा बच्चा भी हो वह भी नहीं चाहता कि मेरा कोई अपमान करे, वह भी चाहता है मेरा सम्मान हो। वह बोलता नहीं है, उसके पास सामर्थ्य नहीं है, यह अगली बात है। लेकिन छोटा बच्चा भी चाहता है, मेरा कोई अपमान न करे। जो 'विज्ञानतः' विद्वान् व्यक्ति है, योगी व्यक्ति है, वह अपनी आत्मा के तुल्य ही सबको देखता है, व्यवहार करता है।

उसके बाद कहते हैं — 'तत्र को मोहः कः शोकः' जो व्यक्ति ऐसा (उपरोक्त) व्यवहार करता है, उसमें न कोई मोह होता है, न कोई शोक होता है। यह योगाभ्यास का फल है। लोग पूछते हैं — योगाभ्यास करने से क्या मिलेगा, ध्यान करने से क्या मिलेगा ? इसका फल वेद में बताया है। जो व्यक्ति योगाभ्यास करता है, ध्यान करता है, ईश्वर की उपासना करता है, उसको यह फल मिलता है। उसके अन्दर मोह

उत्पन्न नहीं होता है, उसके अन्दर शोक उत्पन्न नहीं होता है। ऐसी स्थिति (मोह, शोक से रहित) बनती कैसे हैं ? कैसा व्यक्ति मोह और शोक से रहित हो जाता है ? 'मोह' का अर्थ होता है 'अज्ञान'। 'शोक' का अर्थ होता है 'दुःख'। जब व्यक्ति के अन्दर राग उत्पन्न होता है और वह राग जब घना हो जाता है, गहरा हो जाता है उसको मोह कहते हैं। राग, द्वेष ये सामान्य हैं, जब ये नियन्त्रण की स्थिति में रहते हैं, उनको हम राग और द्वेष के नाम से कहते हैं। लेकिन यही राग-द्वेष जब नियन्त्रण से बाहर हो जाएं तब व्यक्ति विवेक शून्य होकर राग-द्वेष से प्रभावित होकर कार्य करता है तो उसको मोह कहते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने मोह और शोक के साथ जोड़ दिया लोभ आदि। उस योगी को, विद्वान को, संन्यासी को मोह और शोक नहीं होता है। कब नहीं होता है ? कहते हैं — 'एकत्वम्—अनुपश्यतः' एकत्व को जो देखता है। एक परमात्मा को जो अनुभव करता है, जानता है। 'अनुपश्यतः' जो एक परमात्मा को देखता है। उसको ये मोह और शोक नहीं होते हैं। इसकी व्याख्या बहुत सारे विद्वान् अलग-अलग ढंग से करते हैं। ऊपर वाले अर्थ में भी विद्या, धर्म, योगाभ्यास इन तीन चीजों को महर्षि दयानन्द जी ने जोड़ा। एक विद्या, दूसरा धर्म, तीसरा योगाभ्यास। जो विद्या से युक्त होता है, धर्माचरण करता है और योगाभ्यास करता है। ऐसा व्यक्ति जब परमात्मा को 'अनुपश्यतः' देखता है और यहाँ कहा 'एकत्वम्' परमात्मा एक है, अद्वितीय है वह कोई दूसरा नहीं है। सांसारिक पदार्थ में जितनी भी वस्तुएँ हम देखते हैं, ये सब अनित्य हैं। हर पदार्थ में हर क्षण परिवर्तन होता है। सांख्यदर्शन के पहले अध्याय में सृष्टि की रचना और सृष्टि का प्रलय विपरीत क्रम में बताई। प्रकृति से लेकर पाँच महाभूत तक की उत्पत्ति और पाँच महाभूत से लेकर फिर प्रकृति तक प्रलय, दोनों प्रकार का वर्णन वहाँ पर किया है। सांसारिक भौतिक पदार्थ, जितने भी पदार्थ हैं ये सारे के सारे भौतिक पदार्थ धीरे-धीरे प्रलय को प्राप्त होकर

एक प्रकृति में जाकर लीन हो जाते हैं। भूत लोप हो जायेंगे तन्मात्राओं में, तन्मात्रा अहंकार में, अहंकार महत्तत्त्व में, और महत्तत्त्व प्रकृति में। सत्त्व, रज, तम, इन तीनों को मिलाकर एक प्रकृति कही जाती है, वह एक है और वह प्रकृति भी कहाँ रहती है? परमात्मा के अन्दर और जीवात्मा भी सब परमात्मा के अन्दर। प्रलय अवस्था में एक अकेला परमात्मा सक्रिय रहता है। बाकी सब निष्क्रिय हो जाते हैं। उस परमात्मा का जो 'एकत्व' स्वरूप है। संसार की बाकी सब चीजें तो अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। केवल एक परमात्मा है जो अद्वितीय और कभी परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता है। अभी परमात्मा जैसा है, प्रलय में भी वैसा ही रहेगा, कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। यह है — 'एकत्वमनुपश्यतः'। श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया। यह विश्वरूप का दर्शन क्या है? संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सभी पदार्थों को उन्होंने दिखाया कि देखो ये पदार्थ कैसे अपने आप परिवर्तित होकर, अन्त की ओर बढ़ रहे हैं। अब कोई जीवात्मा पाप करता है, कोई पुण्य करता है, कोई अच्छा आचरण करता है, कोई बुरा आचरण करता है। संसार की व्यापकता की दृष्टि से देखिए। हम एक जीवात्मा की दृष्टि से देखते हैं। अपने आपको अभिमान से युक्त करते हैं अथवा अहंकार से युक्त होकर कुछ मानते हैं। हम करते-करते क्या कर सकते हैं, कितना कर सकते हैं? इस ब्रह्माण्ड में हम जीवात्माएँ क्या कर सकते हैं, कितना कर सकते हैं? हमारा कार्य, हमारी प्रवृत्ति, हमारी कृति कितनी थोड़ी सी है। कोई पाप भी करता है तो उसका फल भोगकर दण्ड भोगकर फिर मनुष्य योनि में आएगा। यह एक क्रम, एक प्रवाह लगातार चल रहा है। यह प्रवाह कौन चला रहा है? परमपिता परमात्मा की यह व्यवस्था है। वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। वही परमात्मा पूरे संसार का संचालन करता है। ऐसे 'एकत्व' एक अद्वितीय परमात्मा को 'अनुपश्यतः' देखता हुआ योगी व्यक्ति कभी-भी मोह को प्राप्त नहीं होता है, वह कभी-भी शोक को प्राप्त नहीं

होता है। हम व्यवहार में देखते हैं कि मुझ को लोग बुरा न मानें, मुझ को लोग अच्छा मानें। मुझे ईश्वर अच्छा माने ऐसे कितने लोग सोचते हैं ? मन्त्र यही कहता है कि जो 'एकत्वमनुपश्यतः' हर समय देखता है मेरा हर कार्य, हर व्यवहार, हर विचार ईश्वर के अनुकूल हो। उस एक अद्वितीय परमात्मा को देखता है। वही मुझे कर्म का फल देने वाला है। संसार के लोग फल देने वाले नहीं हैं। हमने कर्म किया उसका फल संसार के लोग दे भी सकते हैं, नहीं भी दे सकते हैं। हम संसार से न्याय की अपेक्षा नहीं रख सकते हैं। लेकिन जो व्यक्ति परमात्मा को देखता है उसके मन में कभी-भी मोह नहीं होगा, कभी-भी शोक नहीं होगा भले सांसारिक पदार्थ नष्ट हो जाएं।

योग दर्शन में एक बढ़िया बात बताई गयी है — 'स्थावराणां जङ्गमेषु, जङ्गमानां स्थावरेषु' ये पाँच महाभूत जड़ हैं। इन जड़ों से फिर चेतनों के शरीर बन जाते हैं और ये शरीर नष्ट होकर फिर मिट्टी में मिल जाते हैं। मिट्टी से देखो पेड़-पौधे, वृक्ष-वनस्पति सब बनते हैं। उस मिट्टी से हमारा शरीर बनता है, स्थावर थी मिट्टी उससे यह जङ्गम बन गया। जङ्गम का अर्थ चलने फिरने वाला। यह चलने-फिरने वाला प्राणियों का शरीर किससे बना ? स्थावरों से जङ्गम बन जाते हैं और 'जङ्गमानां स्थावरेषु' फिर यह जो शरीर हमारा है मरने के बाद नष्ट होकर फिर इस मिट्टी में मिल जाता है। ऐसे जो व्यक्ति देखता है तो उसको धन के प्रति कहाँ मोह उत्पन्न होगा ? उसको कहाँ परिवार के प्रति मोह उत्पन्न होगा, उसकी कोई वस्तु किसी ने छीन ली, अन्याय कर दिया तो उसको कहाँ शोक होगा ? न उसको कोई मोह होगा, न उसको शोक होगा। मोह और शोक से रहित हो जाता है जो व्यक्ति सभी भूतों को आत्मा के तुल्य देखता है। संसार में आत्माएँ नित्य हैं यह तो हम जानते ही हैं। लेकिन उस आत्मा की नित्यता के साथ योग दर्शन के जिस प्रसङ्ग को मैंने बताया वहाँ परमाणुओं की चर्चा करते हैं। सत्त्व, रज, तम ये भी नित्य हैं तो

कोई भी पदार्थ संसार में है, परमाणु के रूप में देखेंगे तो हर पदार्थ नित्य है। केवल इनका परिवर्तन मात्र होता है। अभी पेड़ के रूप में आपको दिख रहा है, कुछ देर बाद वह मिट्टी में बदल जायेगा। रूप का परिवर्तन मात्र होता है। पूरा अभाव किसी का नहीं होता है। पूरा नष्ट कोई पदार्थ नहीं होता है। एक चक्र चल रहा है। सृष्टिक्रम का चक्र परमात्मा की यह लीला है। उस चक्र के बीच में हम आते हैं। इनका प्रयोग करते हैं फिर पार करके चले जाते हैं। जो व्यक्ति ऐसे देखता है। प्रकृति परिवर्तनशील है, संसार का हर पदार्थ परिवर्तन होकर उस मूल तत्त्व से अलग नहीं होता है, केवल मूल तत्त्व ही ऐसा तत्त्व है, जो हमेशा स्थिर रहता है। ऐसे देखने वाले योगी को कभी-भी मोह उत्पन्न नहीं होता है, कभी शोक उत्पन्न नहीं होता है। महर्षि दयानन्द जी योगदर्शन के चौथे सूत्र की 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' की व्याख्या करते हुये लिखते हैं — “उपासक योगी जब व्यवहार में प्रवृत्त होता है तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष शोक रहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोक रूपी दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की वृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फँसती जाती है।” योगी व्यक्ति हमेशा आनन्द में रहता है कभी-भी वह दुःखी नहीं होता है। ये योगी के लक्षण हैं। कष्ट तो हो सकता है, पीड़ा हो सकती है, शरीर है तो रोग हो सकता है, भूख लगेगी, रोटी खाएगा, माँगेगा, सब करेगा लेकिन वह हमेशा आनन्द में रहता है। सांसारिक व्यक्ति जब लाभ हो जाए तो बहुत खुश हो जाएगा और जब हानि हो जाए एकदम दुःखी हो जाएगा। ये मोह और शोक सांसारिक व्यक्ति से कभी अलग नहीं होते हैं और योगी व्यक्ति मोह और शोक से युक्त नहीं होता है। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



छठीं कक्षा

उपनिषद् की छठीं कक्षा । ईशोपनिषद् के मन्त्रों के ऊपर हम विचार कर रहे हैं । पीछे हमने सातवें मन्त्र तक देखा था । तो पीछे के पाठ में से थोड़ा सा पूछ लेते हैं आपसे ! **‘न विजुगुप्सते’** आप बताईये ? घृणा नहीं करता है । कौन घृणा नहीं करता है ? पञ्चभूतों को परमात्मा के अन्दर जो देखता है और सभी भूतों में परमात्मा को जो देखता है । परमात्मा के अन्दर सब कुछ और सब कुछ के अन्दर परमात्मा को जो देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता है, कभी निन्दा नहीं करता है, निन्दनीय कर्म नहीं करता अर्थात् पाप नहीं करता है । **‘यस्मिन् सर्वाणि भूतानि—आत्मा—एव—अभूत्’** । आत्मा—एव—अभूत् का क्या अर्थ है ? जिसके ज्ञान में सभी भूत आत्मवत् रहते हैं । **‘विजानतः’** का अर्थ क्या है ? विशेष प्रकार से जानने वाला । **‘विजानतः’** में कौन—सी विभक्ति है ? षष्ठी एकवचन । जानने वाला व्यक्ति, विद्वान व्यक्ति का । ऐसे व्यक्ति का (कैसे व्यक्ति) जो व्यक्ति ऐसे जानता है । **‘आत्मा—एव—अभूत्’** आत्मा के समान ही जिसके अन्दर ऐसे ज्ञान हो गया । **‘तत्र को मोहः कः शोकः’** उस स्थिति में जब ऐसे अनुभव हो जाता है कि सब कुछ आत्मा के समान ही है । सबको आत्मवत् देखता है, ऐसी स्थिति में क्या होता है ? जो जीवों को एकत्व के भाव से देखता है, उसको मोह भी नहीं होता है और शोक भी नहीं होता है । मोह क्या होता है ? जो विवेक शून्य हो जाए उसे कहते हैं **‘मोह’** । क्या उचित है, क्या अनुचित है ? इसको न जानना, इसको कहते हैं **‘मोह’** अविवेक, अज्ञान और शोक क्या होता है ? दुःखी होना । किसी वस्तु के न मिलने पर अथवा मिली हुई

वस्तु के नष्ट हो जाने पर जो हमको दुःख होता है, उसको कहते हैं 'शोक' । महर्षि दयानन्द जी ने इसके साथ लोभ को भी जोड़ दिया । लोभ भी नहीं है, मोह भी नहीं है, शोक भी नहीं है । जो व्यक्ति एकत्व को जानता है, एक परमात्मा को सर्वत्र जानता है, अनुभव करता है, उसको मोह और शोक नहीं होता है । यह योगाभ्यास का फल है । साधना करने का लाभ इस मन्त्र में बताया ।

आठवाँ मन्त्र देखते हैं :-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्—

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में ईश्वर के बारे में वर्णन किया गया है । ईश्वर अपने बारे में बता रहा है । वेद मन्त्र ईश्वर की वाणी है, ईश्वर का उपदेश है । मैं अपना परिचय अधिक दे सकता हूँ, या आप मेरे बारे में अधिक परिचय दे सकते हैं । मैं अपने आपको अधिक जानता हूँ या आप मुझे अधिक जानते हैं ? 'मैं कैसा हूँ' यह कौन अधिक जानता है ? मैं स्वयं जानता हूँ । ईश्वर ही स्वयं जानता है कि वह कैसा है, ईश्वर स्वयं परिचय दे रहा है, मैं कैसा हूँ ? तो ईश्वर को जानना हमारे जीवन में सबसे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है । ईश्वर को यदि हम ठीक-ठीक जानते हैं, ईश्वर को ठीक-ठीक समझ जाते हैं, ईश्वर के बारे में हमको निश्चिन्त ज्ञान हो जाता है तो हमारा जीवन सफल हो जाता है । ईश्वर के बारे में यदि भ्रान्ति है तो जीवन सफल होने की सम्भावना बहुत कम है । मन्त्र में स्वयं ईश्वर अपना परिचय दे रहा है । जैसे एक बच्चा घर में पैदा होता है । उसको माता-पिता स्वयं सिखाते हैं । माता जी कहती है कि तू मुझे माता कहो । पिता जी कहते हैं कि तू मुझे पिता कहो । बच्चे को सिखाना पड़ता है । इसको भाई कहो, इसको बहिन कहो, इसको चाचा कहो, इसको

दादा कहो । सिखा देते हैं तो सीखता है । ऐसे यदि परमात्मा अपने बारे में स्वयं नहीं बतायेगा तो हम मनुष्य लोग जान ही नहीं सकते । जैसे आज संसार में बहुत सारे लोग ईश्वर के बारे में अलग-अलग कल्पना करते हैं । ऐसे ही कल्पना करेंगे । जिसके मन में जैसा विचार आया, वह वैसे ही ईश्वर को मानेगा, वैसे ही कल्पना करेगा । इसलिए स्वयं परमात्मा अपने बारे में बता रहे हैं । परिचय दे रहे हैं, क्या परिचय देते हैं ? कहते हैं कि ऐसे कहो 'सः परि-अगात्' वह परमात्मा सब जगह व्यापक है ।

स्वामीजी एक प्रश्न है । परमात्मा के लिए सः = वह शब्द क्यों प्रयोग करते हैं ? जो यहाँ नहीं है, उसके लिए वह शब्द प्रयोग किया जाता है ? उत्तर : यह जो मन्त्र है इसमें विद्वान् द्वारा जनता को उपदेश दिया जा रहा है । बोलने वाला स्वयं उत्तम पुरुष होता है, जिसको बताता है वह सामने वाला व्यक्ति मनुष्य मध्यम पुरुष होता है । अपने को और सामने वाले को छोड़कर शेष प्रथम पुरुष होते हैं । ईश्वर के बारे में कोई विद्वान् बताएगा तो 'वह' कहकर बताएगा । अंग्रेजी में भी पास वाले को दूर वाले को अलग-अलग THIS और THAT कहते हैं ।

प्रश्न : ईश्वर तो सबसे पास है, फिर 'वह' कैसे प्रयोग होगा ?

उत्तर : परोक्ष होने से 'वह' कहा जाता है । जिसने प्रत्यक्ष कर लिया उसके लिए यह ईश्वर । ध्यान-उपासना के समय सीधा ईश्वर को मध्यम पुरुष में सामने मानकर बोला जाता है । तूने हमें उत्पन्न किया.....माँगते तेरी दया । सम्बोधन करते हैं — हे ईश्वर ! आप मेरे जीवन का आधार हैं, आप प्रतिक्षण मुझे देख सुन जान रहे हैं मेरे हृदय में विद्यमान हैं, आप सब क्लेशों को भस्म करने हारे हैं । ध्यान-उपासना के समय "वह" ईश्वर नहीं बोला जाता है । पीछे के मन्त्रों में ईश्वर का वर्णन है । जिस के बारे में ऊपर बताया वह ईश्वर, उसी को बताने के लिए सर्वनाम का प्रयोग किया है । जिस ईश्वर से गतिशील जगत् अच्छादित है वह ईश्वर ।

इस प्रकार कथन युक्ति युक्त है। 'वह' शब्द ईश्वर के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

पीछे कई मन्त्रों से इस बात को देखते आ रहे हैं कि ईश्वर को बार-बार बताया जा रहा है। ईश्वर सर्वव्यापक है, ईश्वर सब जगह है, ईश्वर सब जगह पहुँचा हुआ है, वह दूर भी है, पास भी है, अन्दर भी है, बाहर भी है। इस बात को इतना महत्त्व क्यों देते हैं? स्वयं ईश्वर ही इन गुणों के बारे में बताते हैं। इसका मुख्य तात्पर्य यह है। किसी श्रेष्ठ व्यक्ति को जिसको हम मानते हैं, जिसको हम स्वीकार करते हैं, जिसका हम सम्मान करते हैं, उसको जब हम अपने सामने रखते हैं तब उसके सामने हम अशिष्ट व्यवहार नहीं करते, गलत आचरण नहीं करते, उल्टा काम नहीं करते हैं। जब हम कक्षा में बैठते हैं तब हम शान्ति, शिष्टता, भद्रता से बैठते हैं, पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं लेकिन अकेले हों, जिसके अन्दर नियन्त्रण नहीं है, जिसके मन में संस्कार ठीक नहीं हैं, वह गलत भी कर सकता है, अच्छा भी कर सकता है। व्यक्ति जब अपने आप को अकेला पाता है, वह पाप आचरण भी कर सकता है। इसलिए बार-बार, इस बात पर जोर देकर बताते हैं कि आप कहीं भी अकेले नहीं रह सकते हैं। सब जगह परमात्मा व्याप्त है। जैसे हम अपने गुरु-आचार्य अथवा जो माता-पिता को बहुत अधिक मानता है, उनके सामने हम कोई अशिष्ट व्यवहार नहीं करते हैं, गलत काम नहीं करते हैं। ऐसे ही परमात्मा को सब जगह मानो और सब जगह मानने से हम गलत आचरण से बच जाते हैं। मुख्य तात्पर्य-हमारे आचरण के साथ जुड़ा हुआ है, कोई भी हम व्यवहार करते हैं, हर व्यवहार के समय हम परमात्मा को सामने रखें।

अगला शब्द कहा — 'शुक्रम्'। शुक्र का अर्थ महर्षि दयानन्द जी ने किया 'शीघ्रगामी'। शीघ्रकारी, शुद्ध, नित्य। परमात्मा अपने कार्य को बहुत शीघ्र सम्पादित करता है। कितना शीघ्र करता है? परमात्मा के जैसे कार्य हम जानते हैं :- सृष्टि को बनाता है, पालन करता है,

प्रलय करता है, कर्म फल देता है, वेद ज्ञान देता है। ये सब बातें इस मन्त्र में हैं। परमात्मा अपने कार्य को अतिशीघ्र करता है। हम कार्य को करते हैं तो देरी हो जाती है। क्यों देरी हो जाती है ? क्योंकि एक तो हमारे पास ज्ञान नहीं है, दूसरा हमारे पास शक्ति नहीं है। ज्ञान और शक्ति के अभाव में हम कार्यों को शीघ्रता से नहीं कर पाते हैं। शक्ति यदि प्रचुर हो और ज्ञान यदि ठीक-ठीक हो, तो हम कार्य को शीघ्र कर देंगे। परमात्मा क्योंकि सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान है। इसलिए वह अपने कार्यों को अतिशीघ्र करता है। किसी कार्य में परमात्मा विलम्ब नहीं करता है। लोक में एक उक्ति प्रचलित है — ‘ईश्वर के दरबार में देर है, अन्धेर नहीं।’ अर्थात् वह कर्म का फल तो देता है भले देर से हो लेकिन अन्धेर नहीं है, अन्याय नहीं करता है। परन्तु मन्त्र तो ऐसे कहता है कि परमात्मा शीघ्रकारी है। शीघ्रकारी का अर्थ — जिस कार्य को करने में जितना समय लगता है। जिस समय जिस कार्य को किया जाना चाहिए, उस समय उस कार्य को करता है। शीघ्रकारी का यही अर्थ है। ऐसे नहीं कि अन्य मान्यताओं में एक दिन में संसार को बना दिया ‘कु’ बोल दिया संसार बन गया। वैदिक धर्म में ऐसा नहीं है। संसार को बनने में बहुत समय लगता है। लाखों वर्ष करोड़ों वर्ष लगते हैं और संसार को प्रलय करने में ऐसा ही होता है। कोई भी वस्तु बनने में जितनी धीमे-धीमे बनती है तो उसकी दीर्घ काल तक स्थिरता रहती है। संसार को परमात्मा बनाता है लेकिन जितना समय लगना चाहिए उससे देर नहीं करता है। जैसे — सर्वशक्तिमान का अर्थ हम करते हैं कि अपने कार्यों को करने में दूसरों की सहायता नहीं लेता है। उल्टा कार्य वह नहीं करता है, नहीं कर सकता है, फिर भी सर्वशक्तिमान है। जिस कार्य को करने में जितना समय अपेक्षित है, परमात्मा उतने समय में ही कर देता है। हमारे काम आगे बढ़ जाते हैं। हमने सोचा कि अष्टाध्यायी याद करेंगे। छः महीने में याद कर लेंगे। लेकिन याद करते-करते बीच में व्यवधान आये, आलस्य प्रमाद कर देते

हैं। तो छः महीने के स्थान पर आठ महीने लग जाते हैं। हमारे कार्यों में तो विलम्ब हो जाता है। परमात्मा के कार्यों में कभी विलम्ब नहीं होता है। लोग कहते हैं जब कर्म करते हैं तुरन्त फल तो मिलता नहीं है। फिर शीघ्रकारी कैसे? शीघ्रकारी का यह अर्थ नहीं है कि कर्म का फल शीघ्र मिल जाए। हर कर्म का नियम है, किस समय किस वृक्ष में फल आता है यह नियम है। नारियल का पेड़ एक साल में फल दे दे सम्भव नहीं है। उसमें लम्बा काल लगता है और गेहूँ, चना, बाजरा बोते हैं, उसकी कुछ महीने में ही फसल मिल जाती है। जिसको जितना समय लगता है, परमात्मा उसको उतने समय में पूरा कर देता है। उसके कार्य में कभी विलम्ब नहीं होता है। हमारे कर्मों का फल जो नहीं मिला है, अभी उसका समय नहीं आया है। परमात्मा तो शीघ्रकारी है, शीघ्र फल देता है। जैसे एक कीड़े को एक पैर हटाकर दूसरा पैर रखने में जितना समय लगता है, उतने समय में अगला जन्म मिल जाता है। यह एक प्रक्रिया है। परमात्मा एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर को क्षण भर में दे देता है। वह शीघ्रकारी है और कितना शीघ्रकारी है? हर समय हर व्यक्ति को जानता है और हर एक के अन्दर प्रेरणा प्रदान करता है। अभी हमने विचार किया तुरन्त उसी समय में हमारे अन्दर प्रेरणा देता है, थोड़ी देर बाद नहीं। पाप कर्म का फल तो बाद में मिलता है लेकिन उस समय हमारे अन्दर जो प्रेरणा है वह तुरन्त उसी समय ईश्वर देता है। वह शीघ्रकारी है। 'सः पर्यगात्-शुक्रम्'।

आगे कहा 'अकायम्' इसका अर्थ होता है — उसका कोई शरीर नहीं है। अब देखो परमात्मा स्वयं कहता है कि मेरा कोई शरीर नहीं है। न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर, न कारण शरीर है, कोई भी शरीर परमात्मा का नहीं है। अब लोग इसको समझते नहीं हैं। परमात्मा का अवतार मानते हैं। स्वयं परमात्मा अपने बारे में अधिक जानता है या लोग अधिक जानते हैं? परमात्मा तो कहता है 'अकायम्' वह कभी-

भी शरीर धारण नहीं करता है। उसका कोई शरीर नहीं है। 'अवतार लेना' का अर्थ होता है — कहीं पहले नहीं था वहाँ उतरना। जैसे हम कहते हैं — विमान का अहमदाबाद में अवतरण हुआ। ऊपर विमान उड़ रहा था वहाँ से आकर अहमदाबाद में अवतरण किया। ऐसे परमात्मा अवतार कब लेगा ? जहाँ पहले नहीं होगा, वहाँ अवतरण करेगा। मन्त्र के पहले शब्द में कह दिया कि वह सब जगह व्यापक है। उसको अवतरण करने के लिए कोई खाली स्थान है ही नहीं। जहाँ पहले से परमात्मा नहीं, ऐसा कोई स्थान ही नहीं है। जहाँ पर आकर परमात्मा अवतरित हो जाए, उतर जाए, नीचे आए ऐसा कोई स्थान ही नहीं है। पहले से ही परमात्मा सब जगह विद्यमान है तो उसके अवतार लेने की कोई बात ही नहीं है। आज भारत में कितने मत—पन्थ—सम्प्रदाय हैं। जो अपने गुरु को ईश्वर मानते हैं। वेद को न पढ़ने के कारण ऐसा दोष आता है। वेद तो कहता है कि उसका कोई शरीर नहीं है और उस-उस मत—पन्थ, सम्प्रदाय वाले अपने शरीरधारी गुरु को ही ईश्वर मानते हैं। ईश्वर हमारा गुरु है लेकिन मनुष्य शरीर धारण करने वाला गुरु ईश्वर नहीं है। ईश्वर सर्वव्यापक तत्त्व है। मनुष्य का शरीर सर्वव्यापक नहीं है। वह एकदेशी है। जब ऐसे ऐसे शरीरधारी गुरु को परमात्मा अथवा ईश्वर, ब्रह्म मानते हैं तो बहुत सारे दोष आते हैं। जो गुरु है वह भी अपने आप को ऐसे समझने लगता है और जो मानने वाले हैं, उनको वे भगवान मान लेते हैं। अन्त में उनकी दुर्दशा होती है। होता यह है कि उनकी पूजा शुरू हो जाती है और भगवान की उपासना, ध्यान छूट जाता है। यह क्यों हुआ ? वेद को न पढ़ने से। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप क्या है ? वेद कहता है 'अकायम्'। परमात्मा कभी-भी शरीर धारण नहीं करता है। कोई भी कितना भी बड़ा गुरु हो, सच्चा गुरु हो, वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर अलग है, गुरु अलग है। ईश्वर को हम गुरु मान सकते हैं, लेकिन मनुष्य शरीर में रहने वाला गुरु कभी

भी ईश्वर नहीं हो सकता है, क्योंकि परमात्मा 'अकायम्' उसका कोई शरीर नहीं है ।

फिर अगला शब्द कहा 'अव्रणम्' । कहते हैं कि 'व्रण' नहीं है । 'व्रण' फोड़े फुंसियों को कहते हैं । परमात्मा का जब शरीर ही नहीं है, यह कह दिया तो फिर 'व्रण' की तो बात ही नहीं है । तो फिर 'अव्रणम्' कहने की क्या आवश्यकता थी ? व्रण का अर्थ होता है 'छिद्र' । जैसे फोड़े-फुन्सी होने पर छिद्र हो जाता है । जिससे पीव निकलता है, दूषित तत्त्व निकलता है । परमात्मा को यहाँ 'अव्रणम्' कह कर यह कहना चाहते हैं कि वह अछेद्यम् है । जैसे कोई बड़ी चीज है उसमें हम छेद कर सकते हैं, तोड़-फोड़ कर सकते हैं, टुकड़ा कर सकते हैं । परमात्मा को ये कहते हैं 'अव्रणम्' छेद करने योग्य नहीं है । परमात्मा को भाग-भाग नहीं कर सकते हैं । परमात्मा का कोई अंश नहीं है । "परमात्मा अंशी है, हम उसके अंश है ।" इस बात को भी यहाँ निषेध कर दिया कि परमात्मा का कभी-भी भेदन नहीं होता है, छेदन नहीं होता है, उसके अन्दर कोई व्यवधान नहीं होता है । छिद्र नहीं हो सकता है । वह 'अव्रणम्' है ।

और कहते हैं — 'अस्नाविरम्' । स्नायु कहते हैं नस, नाड़ियों को । यह बात भी ऐसे ही है कि शरीर हो तब नस, नाड़ियाँ होती हैं । जब परमात्मा का शरीर ही नहीं है तो नस नाड़ी की बात कहाँ से आयेगी ? तो 'अस्नाविरम्' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इसको थोड़ा समझिए :— जैसे हम सब जीवात्माएँ हैं, जीवात्मा शरीर में स्थान को बदलता रहता है । कैसे स्थान को बदलता है ? अलग-अलग नाड़ियों के द्वारा स्थान बदलता है । 'पुरीतत्' नाम की एक नाड़ी है वहाँ जाकर जीवात्मा शयन करता है । इन नाड़ियों के माध्यम से जीवात्मा की गति होती है । जीवात्मा भी निराकार है, परमात्मा भी निराकार है लेकिन निराकार होते हुए भी जीवात्मा नाड़ियों के माध्यम से गति करता है । उसका संचालन होता है । एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है । लेकिन परमात्मा ऐसे नाड़ियों

के बन्धन में नहीं आता है। हम शरीर में हैं तो नस-नाडियों के द्वारा हमारा सारा कार्य संचालित होता है। वर्णोच्चारण शिक्षा में जैसे हम पढ़ते हैं — आत्मा बुद्धि के साथ युक्त होकर मन को प्रेरित करता है और मन जठराग्नि को प्रेरित करता है, जठराग्नि वायु को प्रेरित करती है और वह वायु अलग-अलग स्थान में अलग-अलग रूप में कार्य करता है। प्राणवायु जो है — नस-नाडियों के अन्दर भर जाती है, जबकि वायु का कोई स्थूल रूप नहीं है। आखों से हम वायु को देख नहीं सकते फिर भी नस-नाडियों के बन्धन में वायु बँध जाती है। लेकिन ईश्वर ऐसे नस-नाड़ी के बन्धन में भी नहीं आता है। न उसके अन्दर कोई छिद्र होता है, न वह कभी नस-नाड़ी के बन्धन में आता है। 'अव्रणम्' उसमें अंश-अंशी का भाव भी नहीं है और 'अस्नाविरम्' किसी भी प्रकार का उसमें आवरण नहीं है। जैसे हमारे पाँच कोष हैं। पाँच कोषों के आवरण से हम ढके हुए हैं। परमात्मा ऐसे किसी भी प्रकार आवरण से ढका हुआ नहीं है। इस बात को 'अस्नाविरम्' शब्द कहता है।

अगली बात कहते हैं 'शुद्धम्'। परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। शुद्धता और अशुद्धता होना ये दो प्रकार की हैं। एक तो द्रव्य की दृष्टि से कोई द्रव्य ही अपने आप में शुद्ध है, कोई द्रव्य अपने आप में अशुद्ध होता है। द्रव्य की दृष्टि से, वस्तु तत्त्व में परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। परमात्मा में किसी भी प्रकार की अशुद्धि नहीं है। कौन-सी अशुद्धि ? जैसे हम सेब को एक सप्ताह तक रखते हैं, वह गल जाता है, सड़ जाता है। परमात्मा में ऐसे कोई गलन, सड़न नहीं होती है। वह स्वरूप से शुद्ध है। ऐसा शुद्ध स्वरूप तो जीवात्मा भी है। महर्षि दयानन्द जी सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं, ईश्वर और आत्मा दोनों ही स्वरूप से पवित्र हैं। आत्मा भी पवित्र है परमात्मा भी पवित्र है। लेकिन आत्मा में और परमात्मा में क्या अन्तर है ? परमात्मा सब मलों से रहित है, सब प्रकार की मलिनता से रहित है। अब शुद्ध और अशुद्ध को समझिए। दूध हमने निकाला

शुद्ध है। दूध को लाकर रखा और उसमें शुद्ध पानी हमने मिलाया। तो आप उस दूध को शुद्ध कहेंगे या मिलावट कहेंगे? क्या कहेंगे? जबकि दूध भी शुद्ध था और जो पानी मिलाया वह भी शुद्ध पानी ही मिलाया। शुद्ध दूध में शुद्ध पानी मिलाने पर भी मिलावट हो गई। अब हम उसको पूरा शुद्ध नहीं कहते हैं, क्योंकि मिलावट हो गई है। ऐसी परमात्मा में किसी प्रकार की कोई मिलावट नहीं होती है। मिलावट से रहित है। परमात्मा किसी से घुलता-मिलता नहीं है। सब प्रकार की अशुद्धि से रहित है।

आत्मा के विषय में योगदर्शन में बताया है 'चितिशक्तिः—अपरिणामिनी—अप्रतिसंक्रमा' अप्रतिसंक्रमा वह किसी से घुलता-मिलता नहीं है। परमात्मा भी घुलता-मिलता नहीं है। जीवात्मा भी शुद्ध है, और परमात्मा भी शुद्ध है। लेकिन थोड़ा अन्तर है। परमात्मा स्वरूप से शुद्ध है, जीवात्मा भी स्वरूप से शुद्ध है। परन्तु परमात्मा का ज्ञान शुद्ध है, पवित्र है, जीवात्मा का ज्ञान कभी शुद्ध रहता है, कभी अशुद्ध रहता है, यह अन्तर है। परमात्मा का ज्ञान सदा, सर्वत्र शुद्ध ही रहता है। हमें भ्रान्ति होती है, हमें संशय होता है, हमें मिथ्या ज्ञान होता है। ईश्वर को कभी न संशय होता है, न कभी भ्रान्ति होती है, न ईश्वर को कभी मिथ्या ज्ञान होता है। उसका ज्ञान भी पूर्ण रूप से शुद्ध है, सदा सर्वदा वह शुद्ध स्वरूप में रहता है। हर जीवात्मा के बारे में ईश्वर को ठीक-ठीक ज्ञान है। सब पदार्थों के बारे में उसको ठीक-ठीक ज्ञान है। उसके ज्ञान में कभी भी अपवित्रता नहीं आती है। महर्षि दयानन्द जी ने इस 'शुद्धम्' शब्द का अर्थ किया है — अविद्यादि क्लेशों से रहित है। योगदर्शन में 'क्लेशकर्मविपाकाशयैः—अपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ईश्वर कैसा है? कहते हैं कि अविद्यादि क्लेश उसमें नहीं हैं। अविद्या तो मुख्य है और उसकी चार सन्तान हैं। कौन-सी? अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। ईश्वर में अविद्या कभी नहीं होती है। ये जो अद्वैत मत

वाले हैं — वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वर, ब्रह्म जो है वह शुद्ध स्वरूप है, पर ब्रह्म के साथ अविद्या का योग होने से संसार की उत्पत्ति होती है।

मन्त्र क्या कहता है ? परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। परमात्मा के साथ अविद्या का योग सम्भव ही नहीं है। अविद्या आदि सभी क्लेशों से वह रहित है। वह शुद्ध स्वरूप है, वह पवित्र है। मन्त्र में कहा कि वह 'शुद्धम्' है, पूर्ण पवित्र है। हमें भ्रान्ति हो जाती है। हम आत्मा के स्वरूप में जब रहते हैं अपने शुद्ध स्वरूप को जानते हैं। जब योगाभ्यास करते हैं, साधना करते हैं तो अपने शुद्ध स्वरूप का बोध होता है और जब हम साधना, योगाभ्यास को छोड़कर व्यवहार काल में आते हैं, तब कैसा अनुभव होता है ? अपने आपको हम आत्मस्वरूप से अलग समझते हैं। इसको कहते हैं — 'वृत्तिसारूप्यम्'। यह हमारा अशुद्ध स्वरूप है। महर्षि व्यास जी ने बताया कि — 'तथा—अपि भवन्ती न तथा' जीवात्मा वैसे होती हुई भी अपने आप को वैसे अनुभव नहीं करती है। जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है फिर वह अपने आपको ऐसे अनुभव नहीं करती है। क्यों ? ज्ञान की अशुद्धि है। परमात्मा में इस प्रकार की अशुद्धि कभी नहीं होती है। उसके अन्दर अशुद्ध ज्ञान कभी नहीं होता है। न कभी उसके अन्दर राग है, न कभी उसके अन्दर द्वेष है। कोई परमात्मा की भक्ति करता है, कोई स्तुति करता है, प्रार्थना करता है, उपासना करता है, तो परमात्मा उसके प्रति राग रखे और कोई परमात्मा को नहीं मानता है, तो परमात्मा उसके प्रति द्वेष करे, ऐसा परमात्मा नहीं है। वह राग-द्वेष से रहित है, शुद्ध स्वरूप है। उसमें किसी भी प्रकार का भय कभी-भी नहीं होता है। हमें भय लगता है। जब हम आत्मस्वरूप में रहेंगे तो भय नहीं लगता है। जैसे आत्म स्वरूप को छोड़कर हम शरीर के साथ, संसार के साथ सम्बन्ध बनाते हैं। उसको अपना स्वरूप मानते हैं। तब हमें भय होता है। परमात्मा को कभी-भी भय नहीं होता है। जैसा उसका स्वरूप है, उसी स्वरूप में परमात्मा सदा-सर्वदा रहता है। परमात्मा का

ज्ञान पूर्णरूप से शुद्ध है। और इसी शुद्धता को प्राप्त करने के लिए हम साधना करते हैं। योगदर्शन में बताया — ‘योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः’ हमारे अन्दर अशुद्धि है, इसलिए ज्ञान की दीप्ति नहीं है। परमात्मा के अन्दर कोई भी अशुद्धि नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान हमेशा दीप्तिमान रहता है। सदा-सर्वदा परमात्मा ज्ञान की दीप्ति में दीप्तिमान रहता है, वह शुद्धस्वरूप है। परमात्मा का स्वरूप भी शुद्ध है, परमात्मा का ज्ञान भी शुद्ध है और परमात्मा के कर्म भी शुद्ध हैं। हम कभी शुद्ध कर्म करते हैं, कभी अशुद्ध कर्म करते हैं लेकिन परमात्मा कभी-भी अशुद्ध कर्म नहीं करता है। जो भी कर्म करता है, परमात्मा शुद्ध कर्म ही करता है। अर्थात् वह न्याय आचरण ही करता है। कभी पाप करता ही नहीं है। इसलिए वह स्वरूप से भी शुद्ध है और उसका भाव भी शुद्ध है। ईश्वर का ज्ञान, कर्म और भाव हमेशा शुद्ध ही रहता है। हम कभी पवित्र भाव से युक्त होते हैं, कभी अपवित्र भाव से युक्त होते हैं। लेकिन परमात्मा अपवित्र भाव से कभी-भी युक्त नहीं होता है। सदा पवित्र भाव में रहता है।

आगे कहा — ‘अपापविद्धम्’। पाप से कभी-भी बीँधा हुआ नहीं होता है। हम जीवात्माएँ अल्पज्ञ हैं, अल्पशक्तिमान् हैं तो अपने ज्ञान के आधार पर हम कर्म करते हैं। कभी पाप कर्म भी करते हैं, कभी पुण्य कर्म भी करते हैं। परमात्मा कभी-भी पाप से बीँधा हुआ नहीं होता है। हमेशा वह ‘अपापविद्धम्’ पाप से रहित होता है। परमात्मा को कभी-भी पाप स्पर्श नहीं करता है। पाप का अर्थ होता है अन्याय। हम अल्पज्ञ और अल्प-शक्तिमान् हैं इसलिए अन्याय कर देते हैं। न्यायपूर्वक पुरुषार्थ करें तो हमको लगता है बहुत शक्ति लगेगी। हम कम खर्च करके उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए अन्याय करते हैं। परमात्मा ऐसा कुछ चाहिए नहीं, इसलिए अन्याय कभी नहीं करता है। वह हमेशा ‘अपापविद्धम्’ पाप से रहित है, अन्याय आचरण से रहित है। हम पाप क्यों करते हैं?

पाप करने का कारण है, हमें किसी न किसी प्रकार का प्रलोभन होता है। हम को दिखता है कि पाप करूँगा तो मुझे यह मिल जायेगा, वह मिल जायेगा। प्राकृतिक पदार्थों का, विषय भोगों का आकर्षण होता है, इसलिए हम पाप कर बैठते हैं। परमात्मा को किसी भी प्राकृतिक पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं है। सांसारिक वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए वह कभी-भी पाप करता ही नहीं है। हमें सांसारिक पदार्थ लुभाते हैं, आकर्षित करते हैं। अपनी ओर खींचते हैं, जैसे चुम्बक लोहे को खींचती है, वैसे ही सांसारिक विषय हमको खींचते हैं। तो उनसे खिंचे हुये हम पापाचरण करते हैं। परमात्मा कभी-भी पाप नहीं करता है क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण तृप्त है। उसमें कोई कमी नहीं है, कोई अभिलाषा नहीं है। इसलिए वह कभी भी पापाचरण नहीं करता है। वह 'अपापविद्धम्' है।

‘शुक्रम, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्,
शुद्धम्, अपापविद्धम्, कविः’

‘कविः’ का अर्थ होता है :- ‘कुवि ज्ञाने’ परमात्मा ज्ञान स्वरूप है ? सर्वज्ञ है। आज-कल लोक में जो श्लोक बनाते हैं, कविता बनाते हैं, उनको हम कवि कह देते हैं, क्योंकि उनके पास ज्ञान है। हम सबके पास साधारण ज्ञान है, हम गद्य के रूप में बोलते हैं, वाक्य के रूप में अपने भाव को प्रकट करते हैं। उनके पास एक विशेष ज्ञान है, वे अपने भाव को काव्य के रूप में, गीत के रूप में, श्लोक के रूप में प्रतिपादित कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान होने से उनको कवि कह देते हैं। परमात्मा भी कवि है। ‘कवि’ का अर्थ ‘ज्ञानी’ होता है। परमात्मा सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है। यह परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। जब तक परमात्मा का ज्ञान स्वरूप हमारे मस्तिष्क में स्थिर नहीं होगा तब तक हम साधना में, व्यवहार में विशेष उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। मन्त्र में कहा परमात्मा कवि है, क्रान्तदर्शी है, ज्ञानी है, सर्वज्ञ है। परमात्मा सब कुछ

जानता है। परमात्मा क्या-क्या जानता है? कहते कि वह एक-एक चीज़ को जानता है, समूह को जानता है, अल्प को जानता है, अधिक को जानता है, इन्द्रियग्राह्य वस्तु को जानता है, अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है। संसार में जितने भी प्रकार का ज्ञान है, सबकुछ परमात्मा जानता है। परमात्मा का अनन्त ज्ञान है। हर पदार्थ में, हर कण-कण में, क्षण-क्षण में जो भी परिवर्तन होता है, वह सब परमात्मा जानता है। परमात्मा के यदि ज्ञान के बारे में विचार करेंगे, तो बहुत आश्चर्य होता है। कैसे परमात्मा सब कुछ एक साथ जानता है? हम अपने मन में क्या-क्या विचारे? आपको पूछू? कि सुबह से लेकर अब तक आपके मन में क्या-क्या विचार आया, सब कुछ बताईए? कोई भी व्यक्ति बता नहीं पाएगा कि मेरे मन में आज इतने विचार आ गये। लेकिन परमात्मा कैसा विचित्र है, हर एक व्यक्ति के हर एक विचार को जानता है और उसी समय जान लेता है। हम सब बैठे हैं। मैं एक व्यक्ति बोल रहा हूँ आप सुन रहे हैं, लेकिन परमात्मा ऐसा है, संसार में जितने लोग बोलते हैं, एक साथ बोलें तो सबको वह एक साथ सुनता है, एक साथ जानता है। यह कवित्व है, क्रान्तदर्शी है। वह हमारे ज्ञान से अतिक्रमण करके अधिक ज्ञान रखने वाला है। इसलिए योगदर्शनकार कहते हैं :— जहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा है, वह सर्वज्ञ है, वह है ईश्वर। ईश्वर प्रत्येक कण में, प्रत्येक क्षण में होने वाले परिवर्तन को भी जानता है और हम चेतन जीवात्माओं को भी परमात्मा जानता है। ईश्वर की उपासना जब हम करते हैं, इन गुणों को हमें धारण करना है। यदि हम ईश्वर को चेतन मानकर उपासना करते हैं, ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर उपासना करते हैं, तो हमारी उपासना ठीक होगी, सही होगी, सफल होगी। जैसे मनुष्य चेतन है, वह हमको देखता है, तो हमको अनुभव होता है। मैं आँख बन्द कर लूँ, तब भी मुझे बोध होगा कि कितने सारे लोग बैठे हैं, मुझे देख रहे हैं। ऐसे ही हम जब ईश्वर की उपासना करते हैं, तो आँख बन्द करने के बाद भी

परमात्मा को ऐसे अनुभव करना है। कि वह तो कवि है, सर्वज्ञ है, मुझे परमात्मा देख रहा है, जान रहा है, सुन रहा है। शरीर से मैं कैसा आचरण कर रहा हूँ, उसको परमात्मा देख रहा है। वाणी से जो मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, उसको परमात्मा साक्षात् श्रवण कर रहा है और मन में मेरे जो विचार हैं, चाहे मैं ईश्वर का चिन्तन कर रहा हूँ, अथवा संसार का चिन्तन कर रहा हूँ, उसको परमात्मा जान रहा है। ऐसे हम परमात्मा को चेतन मानकर उपासना करते हैं, तो उपासना में अच्छी सफलता मिलती है। सतत् हमको अनुभव होना चाहिए कि चेतन परमात्मा, सर्वज्ञ परमात्मा मुझे इस समय देख रहा है, सुन रहा है, जान रहा है। योगी तो सदा-सर्वदा ईश्वर की अनुभूति में रहते हैं। लेकिन हम कम-से-कम उपासना काल में ईश्वर की इस चेतना को संज्ञान में लाएँ, अनुभूति में लाएँ कि वह कवि है, क्रान्तदर्शी है, हमें देख रहा है, जान रहा है, सुन रहा है। जब हम ऐसे अनुभव करते हैं, तो हमारी उपासना सफल हो जाती है।

उसके बाद कहा परमात्मा 'मनीषी' है। मनीषा शब्द मन में उत्पन्न ज्ञान/बुद्धि को कहता है और वह बुद्धि (मनीषा) जिसका है वह मनीषिन् = मनीषी। मनीषी का अर्थ होता है पण्डित, बुद्धिमान-पुरुष। महर्षि दयानन्द जी ने इसका अर्थ किया है — सभी जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता। हमारे मन में कोई भी विचार उत्पन्न होता है उस विचार को परमात्मा साथ-साथ जानता है वह मनीषी है, मनो व्यापार को जानने वाला है। हम मन में विचार करते रहते हैं। अच्छा बुरा विचार करते हैं और हम को लगता है कि मैं तो मन में सोच रहा हूँ। किसको क्या पता है, मैं क्या विचार कर रहा हूँ? अच्छा विचार कर रहा हूँ या बुरा विचार कर रहा हूँ। बहुत सारी जगह पर आप उदाहरण देख सकते हैं। स्वामी दयानन्द जी को जिस पाचक ने जहर दिया, वह भावना तो यही रख रहा था, कि मैं आपकी सेवा कर रहा हूँ लेकिन अन्दर ही अन्दर वह पाप की भावना से युक्त रहा। स्वामी शंकराचार्य जी को जैनियों ने जहर दे दिया। वे नाटक करके उनके शिष्य बनें और व्यवहार ऐसा रखा कि हम आपके

शिष्य हैं और अन्दर ही अन्दर भावना अपवित्र थी। कोई भी व्यक्ति अन्दर ही अन्दर कैसी भी भावना रखे, चाहे हम दूसरों के प्रति रखें अथवा दूसरा हमारे प्रति रखे; उस भावना का, उस मन का ज्ञाता परमात्मा है। इसलिए परमात्मा को कहा वह मनीषी है, मन का स्वामी है, मन को जानने वाला है। मन में बुरे विचार उत्पन्न हों, उसी समय हमको समझना है, कि मनीषी प्रभु परमात्मा मेरे मन के विचार को जानता है। इसलिए परमात्मा को कहा जाता है कि वह भावग्राही है, भाव को ग्रहण करने वाला है। हम क्या बोलते हैं ? परमात्मा के ऊपर प्रभाव नहीं डालेगा। लेकिन हमारे भाव कैसे हैं ? वह परमात्मा ग्रहण करता है। हमारी भावना पवित्र है तो परमात्मा के हम निकट हैं और यदि हमारी भावना अपवित्र है, वाणी से भले ही हम कितनी भी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें; लेकिन यदि भावना शुद्ध नहीं है, तो हम परमात्मा के समीप नहीं हो सकते हैं। मनीषी परमात्मा को जानने से हमारी भावना में परिवर्तन होता है। जब हम अपने घर में अथवा अपनी संस्था में, परिवार में, किसी से व्यवहार करते हैं, तो कुछ छुपाते हैं, कुछ प्रकट करते हैं। यदि हमारा व्यवहार, गलत आचरण दूसरों को पता चल जाए, तो हमें कैसे अनुभव होता है ? कल्पना करिए कोई व्यक्ति बीड़ी पी रहा है और किसी को पता नहीं है, बाद में किसी ने देखा, चित्र भी खींच लिया, अब सबके सामने प्रकट कर दिया कि देखो यह व्यक्ति तो छिप-छिप कर बीड़ी पीता है। अब सबके सामने प्रकट हो जाए तो उसको कैसा अनुभव होगा ? या तो वह व्यक्ति संकल्प करेगा कि आज से बीड़ी नहीं पीऊँगा अथवा दूसरा कि वह उस स्थान पर रह ही नहीं सकता है, भाग जायेगा दूसरे स्थान पर। अब परमात्मा हमारी भावनाओं को जानता है, चाहे हमारी भावना शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो। ये जब हम जानते हैं कि परमात्मा 'मनीषी' है, हमारे मन का स्वामी है, हमारी आन्तरिक भावनाओं को जानता है। तो दो स्थिति बनेगी या तो हम परमात्मा को छोड़ देंगे, या फिर परमात्मा को हम स्वीकार करते

हैं तो बुरी भावनाओं को छोड़ देंगे। इसलिए मन्त्र में कहा कि वह परमात्मा मन का ज्ञाता है, मन को जानने वाला है, ग्रहण करने वाला है।

मन्त्र का अगला शब्द है 'परिभूः'। 'परितः भवति—इति परिभूः' जो चारों ओर से होता है, परिभव करता है अर्थात् जितने भी दुष्ट व्यक्ति हैं, उन सबको दण्ड देता है, परिभव कर देता है। 'परिभव' का अर्थ होता है दूसरों को दबा देना, दूसरों को नीचा करना, दूसरों को 'तिरोभव' कर देना, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसको कोई नहीं दबा सकता है। वह सबको दबा देता है। कोई व्यक्ति कितना ही अन्यायकारी, कितना भी पाप करे, कितना भी अत्याचार करे; उन सबको दबाने वाला, उन सबको समाप्त करने वाला, उन सबको दण्ड देने वाला यह परमात्मा है। वह 'परिभूः' है। उसके ऊपर कोई नहीं है। सबसे ऊपर जो होता है उसको 'परिभूः' कहते हैं। परमात्मा 'परिभूः' है। यह भी हमको शिक्षा देता है। इससे पहले शब्द में कहा था 'मनीषी' है, वह हमारे मन की भावनाओं को जानता है। अब इस शब्द में कहते हैं वह 'परिभूः' है। हम कोई भी गलत आचरण करते हैं, संसार में कोई भी गलत करता है, वह कभी-भी ऐसे अनन्तकाल तक नहीं कर सकता है। परमात्मा के द्वारा उसका परिभव, तिरस्कार होगा ही होगा। कोई भी व्यक्ति परमात्मा से पार नहीं जा सकता है। हमारे लिए एक व्यक्ति ताकत् दिखा सकता है कि मैं आपसे ज्यादा बलवान हूँ, मैं आपको दबा दूँगा, मैं आपके साथ अन्याय कर सकता हूँ, मैं आपका छीन सकता हूँ, लूट सकता हूँ। हम मनुष्यों में यह व्यवहार हो सकता है। पशु-पक्षी आपस में करते ही हैं, लेकिन परमात्मा के सामने किसी की शक्ति नहीं चलेगी, किसी का बल नहीं चलेगा। वह सबको परिभव करने वाला है, सबको दबाने वाला, सबका तिरस्कार करने वाला है।

अगला शब्द है 'स्वयंभूः'। 'स्वयं भवति—इति स्वयंभूः' वह स्वयं ही अपने अस्तित्व में रहता है। उसका कोई निर्माण नहीं करता है, उसको

कोई उत्पन्न नहीं करता है। परमात्मा 'स्वयंभूः' है। ऐसे ही स्वयं ही अपनी सत्ता में रहता है। कभी परमात्मा की उत्पत्ति ही नहीं हुई है। जब उत्पत्ति नहीं हुई है, तो कौन बनायेगा ? यह प्रश्न नहीं उठता है। नित्य पदार्थ की वैशेषिक दर्शन में परिभाषा दी है। नित्य किसको कहेंगे ? तो कहा — 'सत्-अकारणवत्-नित्यम्' जिसकी सत्ता हो और जिसका कोई कारण न हो उसको नित्य कहते हैं। परमात्मा नित्य है, उसकी सत्ता है, वह स्वयं ही सत्तावान् है, उसकी सत्ता को किसी ने बनाया नहीं है, किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। वह 'स्वयंभूः' है। आगे मन्त्र में कहा —

‘याथातथ्यतो-अर्थान् व्यदधात्’। 'याथातथ्यतो' यथा-तथा दो शब्द हैं, 'यथा' का अर्थ होता है 'जैसे', 'तथा' का अर्थ होता है 'वैसे'। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही बनाने वाला परमात्मा। 'अर्थान् = पदार्थान्' वस्तुओं को, द्रव्यों को जितने भी संसार में पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों को बनाने वाला, निर्माण करने वाला, परमात्मा है, मूल रूप में। भवन तो मनुष्य ने बनाया, लेकिन भवन बनाने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता हुई, जिन द्रव्यों की आवश्यकता हुई, उन द्रव्यों का निर्माण करने वाला परमात्मा है। अर्थान् = पदार्थान्, जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको। महर्षि दयानन्द जी आर्य समाज के नियम में लिखते हैं — **‘सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है’** आदि मूल = प्रथम कारण, प्रथम उत्पादक, वह परमात्मा है। बाद में फिर मनुष्य बनाता है। पक्षी भी अपना-अपना घोंसला बनाते हैं। लेकिन प्रथम उत्पादक परमात्मा है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन मूल पदार्थों का ईश्वर निर्माण करता है और कैसे निर्माण करता है ? तो कहते हैं — 'याथातथ्यतः' जिसका जैसा स्वरूप है, बिल्कुल वैसा ही बनाता है। हर सृष्टि में वैसा ही बनाता है। परमात्मा की सृष्टि में कभी-भी कुछ भी बदलता नहीं है। जैसे पिछली सृष्टि में बनाया था, वैसा ही इस सृष्टि में बनाया। **‘यथापूर्वमकल्पयत्’** पूर्व कल्प के समान सब पदार्थों

की परमात्मा रचना करता है। दूसरी बात महर्षि दयानन्द जी इसमें लिखते हैं :— वह वेदों का उपदेश देता है। पदार्थ तो बना दिया, लेकिन पदार्थों का उपदेश ज्ञान नहीं दे, तो उस पदार्थ का उपयोग कैसे करें ? वह यदि न समझाए, तो पदार्थों का क्या मूल्य है ? तो परमात्मा सब पदार्थों का निर्माण भी करता है और उन पदार्थों का उपदेश देकर समझाता भी है कि इस पदार्थ का ऐसे उपयोग करना है। तो इस मन्त्र के अर्थ में दोनों बातें हमको समझनी हैं। परमात्मा एक-एक वस्तु का निर्माण भी करता है और उन सबका उपदेश भी देता है, वेद ज्ञान देता है। किसके लिए देता है ? तो आगे कहा है —

‘शाश्वतीभ्य समाभ्यः’ शाश्वत प्रजाओं के लिए देता है। ‘समाभ्यः = प्रजाभ्यः’। जो शाश्वत हैं, सनातन हैं, हमेशा रहने वाले हैं, ऐसी प्रजा के लिए परमात्मा संसार को बनाता है और बनाकर उनको वेदों का ज्ञान देता है। यदि परमात्मा संसार को केवल बना देता और वेद का ज्ञान नहीं देता तो क्या होता ? पदार्थों को तो दे दिया, लेकिन वेद ज्ञान नहीं दिया। तो इन पदार्थों का प्रयोग हम ठीक से नहीं कर पाते। जो पदार्थों का प्रयोजन है — ‘भोगापवर्गार्थं दृश्यम्’ भोग करने के लिए और अपवर्ग की प्राप्ति करने के लिए यह दृश्य जगत् है, वह प्रयोजन पूरा नहीं होता। परमात्मा ने संसार का निर्माण किया, परमात्मा सबसे अधिक ज्ञानी है, सबसे अधिक शक्तिमान् है। हम सब परमात्मा की प्रजा हैं। वह हमारा पालन करता है, वह हमें शरीर प्रदान करके उत्पन्न करता है, इसलिए हम उनकी प्रजा हैं, वह राजा है। जैसे राजा प्रजाओं का पालन करता है, राज्य में व्यवस्था करता है, ऐसे ही परमात्मा अपनी सृष्टि में सब पदार्थों का निर्माण करता है और हमें वेदों का ज्ञान देता है। यह वेद का ज्ञान उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना संसार के पदार्थ हैं। महर्षि दयानन्द जी ने तो आर्याभिविनय में भी इस मन्त्र की व्याख्या की और इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि संसार में जितने पदार्थ हैं, वह हमारे लिए

जितने उपयोगी हैं, वेद का ज्ञान उससे भी अधिक उपयोगी है। सर्वोत्कृष्ट विद्या जो ब्रह्म विद्या है, इस ब्रह्म विद्या का भी उपदेश इस मन्त्र में है। ब्रह्म विद्या का अर्थ होता है 'ब्रह्मणः विद्या' ब्रह्म के बारे में ज्ञान। ब्रह्म के बारे में ज्ञान इस मन्त्र में दिया गया है। ब्रह्म कैसा है ? ईश्वर कैसा है ? परमात्मा का स्वरूप कैसा है ? उसका गुण-कर्म-स्वभाव कैसा है ? इस मन्त्र में बड़ा विशेष वर्णन किया गया है। हम उसकी शाश्वत प्रजा हैं। कब से प्रजा हैं ? तो कहते हैं — हमेशा से, हम प्रजा हैं, परमात्मा राजा है। कब तक रहेगा ? हमेशा रहेगा। मुक्ति हो जाये, तो भी हम प्रजा ही रहेंगे और परमात्मा राजा ही रहेगा। मुक्ति के बाद फिर इस संसार में आए, तो फिर संसार में प्रजा के रूप में रहते हैं।

तब प्रश्न उठता है कि परमात्मा हमेशा क्यों राजा बनकर रहता है और हम क्यों हमेशा प्रजा बनकर रहते हैं ? सर्वव्यापक होने से। यदि कोई पूछेगा कि वह क्यों सर्वव्यापक है ? हम क्यों एकदेशी हैं ? स्वभाव से।

याद रखो ! जो जिसका स्वभाव है, वह कभी बदलता नहीं है। स्वभाव का अर्थ क्या होता है ? स्वभाव = अपना स्वरूप। उसका अपना स्वरूप ही ऐसा है वह कभी बदलता नहीं है। न्यायदर्शन में कहा कि आप ऐसे नहीं कह सकते हैं कि अग्नि गर्म क्यों है ? अग्नि ठण्डी हो जाए; और जल तरल क्यों ? जल कठोर हो जाए। कहते हैं जिसका जो स्वभाव है, वह कभी बदलता नहीं है, स्वभाव के लिए प्रश्न नहीं उठा सकते हैं, यह ऐसा क्यों है ? क्यों का प्रश्न नैमित्तिक होने पर उठेगा। पानी गर्म क्यों है ? यह तो आप पूछ सकते हैं। पानी को धूप में रख दिया था अथवा पानी को आग पर रखा था, इसलिए पानी गर्म हो गया। लेकिन आप यह नहीं पूछ सकते कि पानी तरल क्यों है ? पानी का वह स्वभाव है। जिसका जो स्वभाव है, उसके लिए क्यों प्रश्न नहीं उठा सकते

हैं ? हम लोग जो लोक में व्यवहार करते हैं, आदत के लिए स्वभाव शब्द प्रयोग करते हैं। वह तो बदल सकता है। अरे उसका तो स्वभाव है क्रोध करना, वह हमेशा क्रोध करता है। वहाँ स्वभाव का अर्थ वास्तविक स्वभाव नहीं है, वह तो आदत है। लम्बे काल से ऐसे करते-करते उसकी आदत पड़ गई, वह तो बदल सकता है। आत्मा का क्या स्वभाव है ? इच्छा। इच्छा को कभी छोड़ नहीं सकते हैं। जैसे ईश्वर सर्वव्यापक है, वह कभी बदलेगा नहीं। वैसे ही आत्मा के अन्दर सुख प्राप्त करने की इच्छा है, वह हमेशा रहेगी। मुक्ति में जाएं तो भी वहाँ इच्छा बनी रहेगी। और जो जिसका स्वभाव है, वह कभी नहीं बदलता है। स्वभाव के लिए 'क्यों' प्रश्न नहीं उठता है ? परमात्मा के ये सब गुण कर्म बताये हैं। यह सब परमात्मा का स्वभाव है। इसलिए 'क्यों' प्रश्न नहीं उठेगा ? परमात्मा ऐसा ही है, हमेशा ऐसा ही रहेगा, वह कभी बदलता नहीं है। स्वभाव कभी-भी किसी का बदलता नहीं है। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



साँतवीं कक्षा

प्रश्न : ८वें श्लोक में बताया गया वह ईश्वर “अकायम्” है अर्थात् शरीर से रहित है फिर “अस्नाविरम्” नस नाड़ी बन्धन से रहित बताने की क्या आवश्यकता है, शरीर नहीं है तो स्वतः सिद्ध हो जाता है नस नाड़ी भी नहीं होगी ?

उत्तर : स्थूल आकार शरीर नहीं होने पर भी वायु नस नाड़ी के अन्दर बन्धन में है, ईश्वर ऐसा भी नहीं है। ईश्वर का शरीर नहीं है, बिना शरीर भी छिद्र हो सकता है। जैसे ओज़ोन लेयर में छिद्र हो रहा है। ईश्वर में ऐसा कोई छिद्र नहीं है, नस नाड़ी के अन्दर ईश्वर तो है, किन्तु नस नाड़ी से बन्धा हुआ नहीं है।

ईश्वर के गुण, कर्म सब स्वाभाविक हैं। किसी निमित्त या जगत के पदार्थ, क्रिया-घटना से ईश्वर प्रभावित नहीं होता है, ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता है। ईश्वर इच्छा करता है, उसे उपनिषद् की भाषा में ईक्षण कहते हैं। मैं जगत् का निर्माण करूँ, प्रजाओं का पालन करूँ, जीवों को = ऋषियों को ज्ञान प्रदान करूँ.....ऐसी अनेक स्वाभाविक इच्छाएँ होती हैं किन्तु कभी विपरीत इच्छा, नैमित्तिक इच्छा नहीं होती है।

प्रश्न : ईश्वर कैसे सृष्टि को बनाता है/क्रिया करता है ?

उत्तर : जैसे हम आत्माएँ करते हैं वैसे ही ईश्वर करता है। मान लीजिए हमने एक पुस्तक आदि किसी पदार्थ को उठाया। पुस्तक को हाथ ने उठाया, हस्त इन्द्रिय को किसने वेग दिया ? मन ने और मन को किसने चलाया ? आत्मा ने। आत्मा की इच्छा और प्रयत्न मात्र से अर्थात् इच्छा

से युक्त होकर मन से संयोग विशेष होने से मन स्वतः कार्य करने लगता है, ऐसी व्यवस्था है, चेतन की इच्छा से जड़ पदार्थ चेतन की इच्छा के अनुकूल कार्य करने लगते हैं। भौतिक पदार्थों को भौतिक साधन से स्थूल धक्का मारते हैं, वैसे चेतन तत्त्व धक्का नहीं देता है, केवल सप्रयत्न इच्छा मात्र या चेतन की उपस्थिति मात्र से जड़ पदार्थ कार्य करते हैं। जैसे आचार्य जी प्रवचन के लिए आएँ तो सब अपने आप व्यवस्थित हो जाते हैं, किसी को आचार्य जी कुछ कहते नहीं हैं धक्का नहीं मारते हैं फिर भी माईक, कैमरा, पानी, जिज्ञासु प्रश्नकर्ता, श्रोता, ब्रह्मचारी, आश्रमवासी, अतिथि सब अपना-अपना स्थान ले लेते हैं, अपना अपना कार्य करने लगते हैं। वैसे ही वर्णोच्चारण शिक्षा में भी बताया गया है। “**आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया**” आत्मा के साथ बुद्धि, मन, अहंकार तीन तत्त्व सदा जुड़े रहते हैं, शरीर धारण = बन्धन अवस्था में। जीवात्मा बुद्धि से निश्चय करके मन से युक्त होता है, मन कायाग्नि = शरीर में स्थित अग्नितत्त्व को प्रेरित करता, अग्नि फिर वायु को.....। इस प्रकार प्राण के माध्यम से इन्द्रियाँ गोलक हाथ, पैर सब कार्य करते हैं। आत्मा की उपस्थिति से सारा तन्त्र क्रियाशील रहता है, व्यवस्था ऐसी ही बनी है; शरीर में श्वास-प्रश्वास, कोशिकाओं का चय-अपचय आदि अनेक क्रियाएँ चल रही हैं। वैसे ही बिना हाथ, पैर, साधन के ईश्वर की इच्छा मात्र से, शक्ति से प्रभावित होकर सत्त्व, रज, तम आपस में निश्चित मात्रा से, निश्चित क्रम से जुड़ते हैं तब अलग-अलग पदार्थों का निर्माण हो जाता है। कोई लौकिक दृष्टान्त उसके तुल्य नहीं है। मोटे रूप से कहें तो बाहर या दूर के कार्य करने के लिए साधन की आवश्यकता होती है। ईश्वर से दूर/बाहर कुछ भी नहीं है, अतः अन्दर कार्य करने के लिए साधन की अपेक्षा नहीं है। बाहर किसी महापुरुष की अर्चना, सत्कार करना है तो साधन चाहिए और अन्दर प्रभु की अर्चना, सत्कार के लिए साधनों

की आवश्यकता नहीं है। उपनिषदों के अध्ययन से ये विषय धीरे धीरे स्पष्ट होंगे।

अलगा मन्त्र —

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥

इस मन्त्र में कुछ गम्भीर विशेष कथन हैं, जो सामान्य अर्थ करने पर विपरीत लगेंगे। कोई भी आप से पूछ सकता है — ऐसा उल्टा अर्थ कैसे कहा गया है ? हमें ठीक से समझना है, मन्त्र के शब्द देखते हैं। अन्धन्तमः, अन्ध अर्थात् अन्धकार और तम जोड़ दिया गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, घनघोर अंधकार को प्राप्त करते हैं वे लोग जो अविद्या की उपासना करते हैं। अविद्या की उपासना अर्थात् विद्या के विपरीत आचरण करते हैं, वे लोग बड़े अन्धकार में प्रवेश करते हैं। प्रथम पंक्ति यहाँ तक तो ठीक है। द्वितीय पंक्ति देखिए — ‘ततो भूय इव’ उससे भी अधिक जैसे मानो और अधिक तम = अन्धकार को वे लोग प्राप्त होते हैं जो विद्या में ‘रताः’ = लगे रहते हैं। अविद्या में लगे रहे तो गहरे अन्धकार को प्राप्त होते हैं और विद्या में लगे रहें तो उससे भी अधिक गहरे अन्धकार को प्राप्त होते हैं। ऐसा हो तो विद्या को छोड़ देना चाहिए, ऐसा कैसे उल्टा हो गया ? अविद्या में तो गहन अन्धकार और विद्या में उससे भी अधिक गहन अन्धकार को प्राप्त होते हैं। उपनिषद्कार ऋषि तो उल्टा बोलेंगे नहीं। उल्टा लग रहा है, उल्टा नहीं है। ऋषि कभी उल्टा बोलते नहीं हैं। तात्पर्य कुछ अलग है। वैयाकरणों की एक महान् परिभाषा है — **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न हि संदेहादलक्षणम्**। महाभाष्यकार यहाँ कहते हैं कि किसी वैदिक वाक्य में अथवा ऋषियों के ग्रन्थ या कथन में कहीं विपरीत/गलत लग रहा है तो उसकी सही व्याख्या करके ठीक अर्थ जानना चाहिए, न कि हमें सन्देह लग रहा है/समझ में नहीं आ रहा

है या हमें गलत जैसा लगता है, इसलिए शास्त्र को ही गलत कह देना सर्वथा अनुचित है। जो ऋषि हैं, आप्त हैं, वे कभी गलत नहीं बताते हैं, गलत करते नहीं, गलत बोलते नहीं हैं। ऋषि सदा प्रामाणिक होते हैं। मन्त्र का सही अर्थ क्या है ? जो व्याकरण पढ़ें हैं, उनको बहुत स्पष्ट हो जाता है।

आप लोगों ने कभी ब्राह्मणों को भोजन कराया या नहीं कराया ? मान लीजिए ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए आपने घर में विशेष भोजन बनाया और ब्राह्मणों को बुलाने के लिए पुत्र आदि किसी को भेजा। ब्राह्मणों का एक [सीजन (Seasson)] काल विशेष में महत्त्व बढ़ जाता है। आश्विन मास के कृष्ण पक्ष में सभी अपने घर ब्राह्मणों को बुलाते हैं तो ब्राह्मण मिलते नहीं हैं। अब कल्पना करें ब्राह्मणों को ढूँढते ढूँढते थक गए, ब्राह्मण मिले ही नहीं घर में बहुत सारा भोजन बना हुआ है, नहीं खिलाएँगे तो सारा भोजन नष्ट होगा। आप क्या करेंगे ? ब्राह्मण मिलने की सम्भावना नहीं है, भोजन सारा फेंक दें क्या ? अथवा ब्राह्मण भिन्न दूसरों को खिला दें ? तो आपने कहा कि ब्राह्मण नहीं मिल रहे हैं तो **अब्राह्मण को लाओ** ब्राह्मण से भिन्न को लाओ। अब यह लाठी है, लाठी ब्राह्मण नहीं है किन्तु अब्राह्मण को लाओ कहने से लाठी को नहीं लाएँगे, किसी जड़ पदार्थ को नहीं लाएँगे। भोजन खिलाने का प्रयोजन मनुष्यों से पूरा होगा। इसलिए ब्राह्मण न मिलने पर ब्राह्मण भिन्न अन्य मनुष्यों को लाएँगे, कुर्सी, मेज, पुस्तकादि जड़ पदार्थ नहीं लाएँगे। वैसे ही मन्त्र में जो कहा **विद्या = ज्ञान**। अब अविद्या कहने से विद्या से भिन्न किसी भी तत्त्व को नहीं ले सकते हैं। जैसे अब्राह्मण कहने से किसी भी पदार्थ को नहीं लेते केवल मनुष्य का ग्रहण होता है। अब्राह्मण = ब्राह्मण से भिन्न किन्तु ब्राह्मण जैसा मनुष्य वैसे ही अविद्या कहने से विद्या से भिन्न किन्तु विद्या के सदृश तत्त्व को ही लेंगे। हम तीन तत्त्व को एक वर्ग में मानते हैं। (१) ज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना। आप अपने जीवन में देखिए प्रत्येक समय आपके मस्तिष्क में कोई न कोई ज्ञान होगा,

कोई न कोई कर्म करते हैं और किसी न किसी की उपासना चलती है। इसलिए महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में कहा है — मनुष्य का आत्मा क्षण भर कर्म, उपासना, ज्ञान से रहित नहीं होता है। हर समय मस्तिष्क में ज्ञान रहता है। जैसे वर्तमान देख रहे हैं, सुन रहे हैं, यह न भी हो तो भी सोते समय सुख दुःख अनुभव होता है, मस्तिष्क तब भी सक्रिय रहता है, ज्ञान सदा बना रहता है। हर समय कोई न कोई कर्म करते रहते हैं जैसे वर्तमान पठन-पाठन कर्म चल रहा है। चलना फिरना बोलना, बैठना भी एक कर्म है, चिन्तन करना एक मानसिक कर्म है। कर्म से रहित कोई भी कभी नहीं होता है। वैसे ही उपासना से। उपासना का अर्थ समीपस्थ होना। व्यक्ति या वस्तु दूर होने पर भी हम मन में विचार के माध्यम से समीपस्थ रह सकते हैं। उपासना अर्थात् मन में किसी के प्रति प्रीति होना। एक विद्वान कहते थे, मैं तो शौचालय का उपासक हूँ अर्थात् बार-बार शौच जाना पड़ता है, निवास स्थान के समीप शौचालय आवश्यक है। आवश्यकता, प्रीति उपासना कहलाती है। ईश्वर की उपासना अर्थात् ईश्वर में प्रीति है। हर समय कर्म, उपासना, ज्ञान चलता रहता है। विद्या का अर्थ ज्ञान है तो अविद्या का अर्थ क्या होगा ? अविद्या = कर्म और उपासना है। जैसे अब्राहम का अर्थ ब्राह्मण से भिन्न किन्तु ब्राह्मण के तुल्य मनुष्य का ही ग्रहण है। वैसे अविद्या का अर्थ विद्या = ज्ञान से भिन्न किन्तु ज्ञान से सदृश होना चाहिए। ज्ञान—कर्म—उपासना तीनों का एक समुदाय है, तीनों जीवन के अंग हैं। उन तीनों में से ज्ञान को विद्या कहते हैं तो **अविद्या = कर्म और उपासना** है। अब मन्त्र का अर्थ करते हैं। **अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये—अविद्यामुपासते।** जो लोग केवल कर्म, उपासना (प्रीति/अप्रीति) को ही महत्त्व देते हैं, वे लोग गहन अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

संसार में अनेक लोग कहते हैं कर्म ही धर्म है। अपना कर्तव्य कर्म करना ही ईश्वर की भक्ति है, अलग से कोई धर्मानुष्ठान, ईश्वर भक्ति, ध्यान—साधना करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ कहते हैं हम सेवा,

परोपकार करेंगे फिर मनुष्य जन्म मिलेगा; बार-बार अच्छे कर्म करेंगे बार-बार इस धरती पर जन्म लेंगे, न हमें स्वर्ग चाहिए न मोक्ष चाहिए। विद्यार्जन, ध्यान—साधना की आवश्यकता नहीं है जनता की सेवा ही एक मात्र कर्तव्य है। मन्त्र कहता है जो केवल कर्म को ही सब कुछ मानते हैं वे लोग ‘अन्धन्तमः प्रविशन्ति’ गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कर्म करने से अन्धकार की प्राप्ति कैसे होती है? इसको समझने का प्रयत्न करते हैं। कर्म तो हर कोई करता ही है। शरीर में भी अनेक क्रियाएँ श्वसन तन्त्र, पाचन तन्त्र, रक्तादि संवाहन तन्त्रिका व्यवस्था कर्म तो चल ही रहा है। कर्म तो हर व्यक्ति करता ही है। कर्म करने से पहले ज्ञान तो होगा ही, केवल कर्म करना कैसे सम्भव है? केवल ज्ञान में बिना कर्म किए कोई रह नहीं सकता है, वैसे बिना ज्ञान केवल कर्म कोई कर नहीं सकता है, ज्ञान तो सब के पास है ही। यहाँ इस ज्ञान का अभाव नहीं कहना चाहते हैं।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है? आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान को छोड़कर जो केवल कर्म = सकाम कर्म करता है और उपासना = केवल सांसारिक सुख में रुचि रखता है; ऐसे कर्म, उपासना = अविद्या में जो लगा हुआ है वह गहन अन्धकार को प्राप्त होता है, मनुष्य जीवन में जो करना चाहिए, जो कर सकता है उस मुख्य लक्ष्य को छोड़कर दूसरे में लगा हुआ है, उसके लिए यह कथन है। योगदर्शन व्यासभाष्य में आया है — अपने अन्दर प्रश्न उठता है, यह संसार क्या है? यह कैसा है? मैं कौन था? मैं कहाँ था। हम क्या होंगे? हम कैसे होंगे? इस प्रकार पूर्वान्त एवं अपरान्त और मध्य में आत्मस्वरूप की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसी को विशेष ज्ञानी कहा जाता है। विशेषदर्शन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः (योगदर्शन ४-२५)। अन्य सब अज्ञानी हैं, जो सारा समय धन उपार्जन एवं विषय सुख भोगने में लगाता है या केवल सेवा परोपकार में लगाता है, आत्मज्ञान के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है; उसके लिए कहते हैं “अन्धन्तमः प्रविशन्ति।”

कोई कह सकता है, जो सांसारिक सुख की ही उपासना करता है, जो अपने लिए अपने सुख—सुविधा के लिए करता है वह तो हानि उठाएगा किन्तु दूसरों को सुख पहुँचाने में जो लगा है, उसकी हानि क्यों होगी ? यह समझना है हम कोई भी कर्म करते हैं “अनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः” की स्थिति बनती है। कार्य में जो सहयोग करते हैं, प्रशंसादि करते हैं, उनके प्रति राग एवं उस परोपकार के कार्य में जो बाधा डालते हैं उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, परोपकार के कार्य के साथ साथ राग द्वेष भी बढ़ते जाते हैं। ज्ञान को छोड़कर व्यक्ति जितना अधिक कार्य करता है सुख दुःख से उतना अधिक प्रभावित होता है और व्यक्ति जितना सुखी—दुःखी होता है उतना राग—द्वेष बढ़ता जाता है।

योगदर्शन में बताया कि “सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः” कर्म का फल जाति, आयु, भोग मिलता है और आगे बताया ‘ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्’ कि पाप करने से दुःखद जाति—आयु—भोग मिलेंगे, हम बार बार पुण्य कर्म ही करेंगे और ह्लाद = सुखद जाति—आयु—भोग बार-बार प्राप्त करेंगे। आगे उत्तर दिया है परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। आप कितना भी पुण्य कर्म करें, सेवा, परोपकार से बढ़िया शरीर, दीर्घायु, उत्तम भोग प्राप्त करें; वहाँ जो आपको सुख दिखाई देता है वह सुख भी दुःख ही है सारा विवेकी की दृष्टि से। कोई ऐसा सुख संसार में नहीं है जिसमें दुःख मिला हुआ न हो। वात्स्यायान ऋषि न्यायदर्शन के भाष्य में कहते हैं बहुत बड़ी कढ़ाई में हलवा या मिठाई है, उसमें थोड़ा जहर मिला हुआ है। सारी मिठाई जहर बन जाती है जो खाएगा वह मरेगा, जो छोड़ देगा वह नहीं मरेगा सुखी रहेगा। विद्या = ज्ञान को छोड़कर कोई भी कर्म करते हैं। सुख—दुःख होगा, उससे राग—द्वेष होगा, फिर जन्म—मरण चक्र आगे बढ़ता जाता है। यदि तत्त्वज्ञान नहीं है तो जिसके प्रति राग होगा उसका खूब उपकार करेगा मन—वाणी—शरीर से और वही व्यक्ति जिसके प्रति द्वेष है, उसका अपकार/हानि भी करेगा। उससे और रागद्वेष

बढ़ेगा। मनुष्य जीवन का प्रयोजन था राग-द्वेष को समाप्त करना या कम करना। बिना ज्ञान के व्यक्ति उससे विपरीत चला जाता है। ज्ञान का अनादर करने वाला समझ ही नहीं सकता है, मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? ऐसे व्यक्तियों के लिए मन्त्र में कहा गया है — “अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते” जो लोग सोचते हैं मुक्ति की, तत्त्वज्ञान की, विद्या की कोई आवश्यकता नहीं, केवल कर्म करो खूब सुख भोगने को मिलेगा, ऐसे अविद्या में डूबे हुए लोग गहरे अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

आगे कहा — ‘ततो भूय इव ते तमः’ उससे भी अधिक गहरे अन्धकार को वे लोग प्राप्त होते हैं ‘ये उ विद्यायां रताः’ जो लोग निश्चित रूप से विद्या में लगे रहते हैं। जो बिना ज्ञान सकाम कर्म करता है, उसको गहन अन्धकार प्राप्त होता है और जो विद्या में लगे रहते हैं वे और अधिक दुर्दशा को प्राप्त होते हैं। महर्षि दयानन्द जी इसका अर्थ करते हैं — जो व्यक्ति शब्द-अर्थ-सम्बन्ध में दिन रात लगा रहता है किन्तु उसका आचरण वेद के विपरीत है, ज्ञान के विपरीत करने वाला है वह अधिक दोषी है, अधिक दण्ड का भागी है, अधिक गहरे अन्धकार को प्राप्त होगा। शास्त्रों को पढ़ना अलग है और शास्त्रों के अनुकूल आचरण करना अलग है। शास्त्र को पढ़ने वाला अच्छा ही होगा कोई जरूरी नहीं है। वेद को पढ़ने वाला सिगरेट पी सकता है या नहीं? वेद उसके हाथ को नहीं पकड़ेगा कि सिगरेट मत पीओ। वेदपाठी भी चोरी कर सकता है। जो लोग शास्त्र पढ़ने में तो खूब परिश्रम करते हैं किन्तु उनका आचरण ठीक नहीं है उनके लिए कहा गया वे और अधिक गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

विद्या वृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए, साथ में आचरण को भी उत्तम बनाना आवश्यक है। शिक्षा का सम्बन्ध हमारे आचरण के साथ है। कहा भी जाता है इसको व्यवहार किसी ने सिखाया नहीं है; और विद्या का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है, जैसे कोई भूगोल विद्या, खगोल विद्या,

अध्यात्म विद्या आदि का जानकार है। वह उस विषय को जानता है। क्या क्या सीखा अर्थात् क्या क्या व्यवहार में कर सकता है। जो लोग शब्दार्थ सम्बन्ध को जानने में पूरा जोर लगा देते हैं परन्तु अपने आचरण को ठीक नहीं करते हैं, वे अधिक हानि उठाएँगे। जो जानते ही नहीं हैं उनको कम पाप लगेगा और जो जानता है फिर भी गलत करता है, उसको ज्यादा पाप लगेगा। एक को पता ही नहीं है कि मांसाहार पाप है, माता-पिता ने बचपन से मांस खिलाना प्रारम्भ कर दिया बच्चा खाने लग गया। पाप तो उसको भी लगेगा और एक व्यक्ति जानता है मांस खाना पाप है, यदि व्यक्ति वेदादि शास्त्रों को पढ़ा हुआ है फिर भी मांस खा रहा है तो भयङ्कर पाप लगेगा। जो व्यक्ति वेद भी नहीं पढ़ा, सत्संग में भी कभी गया नहीं, सुना नहीं, 'मांस खाने से ईश्वर दण्ड देगा' यह बात जानता नहीं है; उस व्यक्ति को कम पाप लगेगा। जैसे एक ग्रामीण व्यक्ति अपने गाँव के आस-पास के छोटे नगरों में गाड़ी चलाता है। कभी पहली बार गाड़ी लेकर बड़े नगर में गया। बड़े नगर में ट्रैफिक सिग्नल तोड़ता है अथवा One way traffic Road में चला जाता है, पुलिस पकड़ती है उसका Driving Licence देखती है। वह व्यक्ति कहता है — मैं गाँव से आज पहली बार ही आया हूँ तो पुलिस कम दण्ड देगी या छोड़ भी सकती है। किन्तु उसी नगर में रहने वाला व्यक्ति नियम भंग करता है तो पुलिस अधिक दण्ड देगी, छोड़ेगी नहीं। कारण क्या है? ग्रामीण व्यक्ति ने अज्ञानता से गलती की है, इसलिए कम अपराधी है और नागरिक व्यक्ति ने जान बूझकर गलती की है इसलिए अधिक दोषी है।

हम सब जानते हैं या नहीं जानते हैं? शास्त्र की बातों को हम सब जानते हैं। अब यदि हम गलत करेंगे तो अधिक दण्ड मिलेगा। वेद, उपनिषद् जो पढ़ते हैं उनको ईश्वर के आदेश का ज्ञान है। वेद, उपनिषद् पढ़कर गलत करेंगे तो हमें अधिक दण्ड मिलेगा। कोई ऐसी अर्थापत्ति न निकालें कि पढ़ने से, जानने से अधिक दण्ड मिलेगा। इससे तो न

पढ़ना ही अच्छा है, क्यों पढ़ें ? ऐसा नहीं है । पढ़ने से जानने से उस दोष को हम छोड़ सकते हैं, यहाँ सम्भावना है । जो जानता ही नहीं वह व्यक्ति कभी भी मांसाहार नहीं छोड़ेगा, बार-बार करेगा पाप का परिमाण बढ़ता जाएगा । जो जानता है यह गलत है किन्तु संस्कारवशात् या किसी कारणवश नहीं छोड़ पाता है, वह आज नहीं तो कल इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में छोड़ सकता है । जो व्यक्ति बार-बार पढ़ता है, सत्संग में जाता है, सुनता है, विचार करता है, कुछ दिनों के बाद तो मांसाहार धूम्रपान आदि व्यसन छोड़ ही देता है ।

जो विद्या को कोई महत्व नहीं देते केवल कर्म और सांसारिक पदार्थ में ही रुचि रखते हैं उनकी ही उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो विद्या अभ्यास में बहुत प्रयत्नशील हैं किन्तु अपने आचरण में दोष करते हैं वे और भी अधिक गहन अन्धकार को प्राप्त होते हैं ।

एक व्याख्याता ने अविद्या का अर्थ भौतिकवाद (Materialism) और विद्या का अर्थ अध्यात्मवाद (Spiritualism) किया है । जिन्होंने वैशेषिक का स्वाध्याय किया है वे जानते हैं “यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः” अभ्युदय = भौतिक उन्नति, निःश्रेयस् = आध्यात्मिक उन्नति, दोनों का समन्वय आवश्यक है । वैदिक वाङ्मय में जगह जगह ऐसा कथन प्राप्त होता है । सन्ध्या में पहले ही मन्त्र में दो प्रार्थना हैं । अभीष्टये एवं पीतये, अभीष्टि = मनोवाञ्छित सुख और पीति = पूर्णानन्द आध्यात्मिक सुख । शरीर को जीवित रखने के लिए, जीवन चलाने के लिए आवश्यक भौतिक संसाधन = अभीष्टि की प्राप्ति के लिए और बाह्य साधनों को छोड़कर जो आन्तरिक सुख, शान्ति, सन्तोष, तृप्ति, उत्साह, आनन्द, निर्भयता = पीति की प्राप्ति के लिए प्रभु आप हमारे लिए कल्याणकारी होंगे । हमारे जीवन में दोनों की आवश्यकता है । केवल भौतिक उन्नति करेंगे

तो जीवन में शान्ति नहीं मिलेगी बेचैन रहेंगे। केवल आध्यात्मिक उन्नति के प्रति केन्द्रित रहेंगे, भौतिक साधनों की संपूर्ण उपेक्षा करेंगे, तो रोगी होंगे साधना नहीं कर पाएँगे। केवल भौतिकवाद को अपनाएँगे तो हर व्यक्ति दुःखी, भयभीत मिलेगा जैसे आज की स्थिति दुनिया में है। यह गहन अन्धकार है कोई अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं है, सब व्याकुल हैं और केवल अध्यात्मवाद को अपनाएँगे तो शरीर का भी निर्वाह नहीं होगा (भौतिकवादियों का शरीर निर्वाह तो हो जाता है) इसलिए और गहरा अन्धकार कहा है, साधना करने हेतु आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। उसके बिना साधना ही नहीं कर पाएगा और कोई शरीर को ही सब कुछ मानता है, आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करता है, वह भी दुःख को प्राप्त करता है; जिसको मन्त्र में 'अन्धन्तमः' कहा है। विद्या और अविद्या दोनों का कैसे उपयोग करना है, दोनों से क्या-क्या लाभ होते हैं, उनका वर्णन अगले मन्त्रों में है। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः ॥



आँठवी कक्षा

पीछे की कक्षा में जो पढ़ा है उसके ऊपर अध्येताओं से कुछ प्रश्न पूछते हैं ।

प्रश्न : ९वें मन्त्र/श्लोक में जो अविद्या शब्द है उस का अर्थ क्या है ?

उत्तर : जो केवल कर्म को ही महत्व देते हैं, उन्हें अविद्यारत कहा गया है ।

प्रश्न : जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे अंधकार को प्राप्त होते हैं और जो विद्या की उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक गहरे अंधकार को प्राप्त होते हैं; ऐसा क्यों ?

उत्तर : जो जानते हैं लेकिन आचरण नहीं करते हैं, विद्या प्राप्ति में तो लगे रहते हैं परन्तु अपने आचरण के प्रति कोई ध्यान नहीं देते, आचरण उल्टा करते हैं तो वे घोर अंधकार में जाते हैं ।

व्याख्याकार ने लिखा — जो केवल भौतिकवाद की उपासना करते हैं वे गहरे अंधकार को प्राप्त होते हैं और जो केवल अध्यात्मवाद की उपासना करते हैं वे और भी गहरे अंधकार में जाते हैं । संसार में एक मान्यता प्रचलित है जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है लेकिन वैदिक सिद्धान्त में महर्षि दयानन्द जी कभी भी इस प्रकार जगत् को मिथ्या नहीं कहते हैं । जहाँ भी लिखते हैं — चक्रवर्ती सम्राट तक ऐश्वर्य की प्राप्ति लिखते हैं, भौतिक जगत् उपेक्ष्य नहीं है, भौतिक जगत् की उपेक्षा कर दें, इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, मिथ्या है ऐसी बात नहीं है । जगत्

की अलग उपयोगिता है और अध्यात्म की अलग उपयोगिता है । दोनों बात को अगले मंत्र में बता रहे हैं —

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १० ॥

कहते हैं ‘विद्यया’ विद्या से ‘अन्यदेवाहुः’ जब हम विद्या प्राप्त करते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उससे अलग फल मिलता है, अलग परिणाम मिलता है और ‘अन्यद्—आहुः अविद्यया’ अविद्या से अर्थात् कर्म और उपासना से हमको अलग फल मिलता है । ज्ञान का फल अलग है, कर्म का फल अलग है, ज्ञान से अलग लाभ होता है, कर्म से अलग लाभ होता है । क्या लाभ होता है, उसके बारे में कैसे पता चलता है ? अगली पंक्ति में कहते हैं ‘इति शुश्रुम’ । ‘शुश्रुम’ का अर्थ होता है हमने ऐसा सुना, किससे सुना ? कहते हैं ‘धीराणाम्’ धीर व्यक्ति, ज्ञानी लोग, विद्वान् लोगों का यह कथन हमने सुना ‘ये नस्तद्विचक्षिरे’ । ‘ये’ का अर्थ है जो धीर लोग, विद्वान् लोग, बुद्धिमान् लोग ‘तत्’ उसको ‘विचक्षिरे’ विशेष रूप से व्याख्या करते थे । ‘विचक्षिरे’ में कौन सा लकार है ? लिट् लकार है भूतकाल में । वेद में लिट् लकार सामान्य अर्थ में भी होता है, कहते हैं इस प्रकार वे लोग व्याख्या करते थे, कौन लोग ? धीर लोग, विद्वान् लोग, बुद्धिमान् लोग । जो लोग इस विद्या को अच्छी तरह से जानते हैं वे लोग ऐसी व्याख्या करते थे और उसी को हमने इस प्रकार सुना । ये जो बातें हैं, ये परम्परा से चल रही हैं । यदि सीधा शब्द का अर्थ करेंगे कि विद्या और अविद्या तो उल्टा अर्थ हो जाएगा कि जो अविद्या की उपासना करेंगे वे तो अंधकार में जाएंगे और जो विद्या की उपासना करेंगे वे और अधिक अंधकार में जाएंगे सीधा-सीधा अर्थ देखेंगे तो उल्टा लगेगा या नहीं लगेगा ? विद्या की उपासना करने से और गहरे अंधकार में कैसे जाएंगे ? किस शब्द का क्या अर्थ होगा ? वहाँ कैसा अर्थ करना

चाहिए ? यह परम्परा से प्राप्त होता है । मन्त्र कहता है जो धीर लोग हैं विद्वान् लोग, बुद्धिमान् लोग, योगी लोग समाधि अवस्था में प्रत्यक्ष करते हैं, वे इसके अर्थ की व्याख्या करके बताते थे । क्या बताते थे ? ‘अन्यदेवाहुर्विद्यया’ विद्या से अलग कुछ प्राप्त होता है और अविद्या से अलग कुछ प्राप्त होता है । विद्या का अर्थ क्या है ? ज्ञान । और अविद्या का अर्थ क्या है ? कर्म । विद्या का अलग फल मिलता है और अज्ञान का अलग फल मिलता है । कोई भी कर्म हम करते हैं बिना ज्ञान के नहीं कर सकते हैं । संसार में दो प्रकार की विद्या है — परा विद्या, अपरा विद्या । अपरा विद्या तो जितनी जिसको आवश्यक है वह उतनी उस विद्या को प्राप्त करता है । कोई स्वास्थ्य के बारे में जानना चाहता है, दूसरों की चिकित्सा करना चाहता है तो वह कौन-सा ग्रन्थ पढ़ेगा ? आयुर्वेद पढ़ेगा, क्योंकि वह चिकित्सा करना चाहता है । किसी को गणित विद्या के बारे में जानना है तो उसको गणित विद्या पढ़नी पड़ेगी । कोई पदार्थों के बारे में जानना चाहेगा, तो वह पदार्थ विद्या (Physics) पढ़ेगा । रासायनिक परिवर्तन को जानना है तो रसायन विज्ञान (Chemistry) को पढ़ेगा । ये सब अलग-अलग विद्याएँ हैं । इन सब को अपरा विद्या कहते हैं, और परा विद्या क्या है ‘परा यया तद्-अक्षरम्-अधिगम्यते’ परा विद्या जिससे अक्षर परमात्मा की प्राप्ति होती है । यदि व्यक्ति सामान्य ज्ञान को प्राप्त करता है लेकिन विशेष ज्ञान अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने की विद्या को नहीं जानता तो वह दोषावह है, ऐसा पिछले मन्त्र में कहा है । इस मन्त्र में कहते हैं — यह जो अध्यात्म विद्या है, आत्मा परमात्मा की विद्या है, तत्त्व ज्ञान है इससे अलग लाभ होता है । क्या लाभ होता है ? यदि आपको सत्यार्थ प्रकाश का प्रसंग याद हो तो वहाँ पर महर्षि ने प्रश्न उठाया कि जो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हैं, ईश्वर उनके पापों को माफ कर देता है, क्षमा कर देता है या नहीं ? उत्तर दिया — नहीं करता है । कहते हैं कि ईश्वर हमारे पाप को क्षमा नहीं करता है तो उसकी स्तुति,

प्रार्थना, उपासना करने से क्या लाभ है ? क्यों हम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें ? उत्तर दिया — इसका फल अलग है, पाप क्षमा नहीं । ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करेंगे तो उसका फल अलग मिलेगा । कितना भी बड़ा दुःख आए, पहाड़ जैसा भी दुःख आए तब भी व्यक्ति घबराता नहीं है, यह आत्मिक शक्ति उस व्यक्ति को प्राप्त होती है । जो ईश्वर की उपासना करता है, तत्त्व ज्ञान, परा विद्या को प्राप्त करता है, वह आत्मिक शक्ति से युक्त होता है, आत्मिक शक्ति बढ़ जाती है । लेकिन उसको भूख लगेगी या नहीं ? लगेगी । केवल ईश्वर की उपासना करने से भूख मिट जायेगी ? उपासना का लाभ अलग है । भूख मिटाने के लिए क्या करना पड़ेगा ? भोजन । वह भौतिक विद्या से कर्म करने से मिलेगा । विद्या से आंतरिक सुख, आंतरिक शान्ति की प्राप्ति होती है और कर्म करने का फल क्या होता है ? जीवन जीने के लिए जो आवश्यक साधन हैं, वे हमको प्राप्त होते हैं । कर्म और ज्ञान का अलग-अलग लाभ है । जो आत्मा परमात्मा का अर्थात् तत्त्व ज्ञान परा विद्या को प्राप्त नहीं करते हैं, केवल कर्म करते हैं, वे आंतरिक शांति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, चाहे वह कितना ही बड़ा समाज सेवी हो, कितना ही बड़ा परोपकारी हो, कितना ही व्यक्ति दूसरों के उपकार के लिए तन, मन, धन और दिन-रात एक कर दे फिर भी आंतरिक शांति उसको नहीं मिलेगी हमेशा वह अशांत रहेगा, हमेशा वह विचलित रहेगा । दूसरी बात है जो आत्मा-परमात्मा की विद्या को प्राप्त करते हैं, वे हमेशा अंदर से तो शांत रहेंगे, प्रसन्न रहेंगे, संतुष्ट रहेंगे, निर्भीक रहेंगे लेकिन उनको शरीर की रक्षा के लिए, शरीर का पालन करने के लिए उनको भौतिक साधनों की आवश्यकता है, साधनों के लिए कर्म करना आवश्यक है, कर्म के बिना साधन प्राप्त नहीं होंगे । कर्म करने से भौतिक उन्नति होती है और विद्या प्राप्ति से आध्यात्मिक उन्नति होती है । दोनों हमारे लिए आवश्यक हैं, भौतिक उन्नति भी चाहिए और आध्यात्मिक उन्नति भी चाहिए । जो भौतिक उन्नति नहीं

करते हैं केवल आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं, भोजन भी बढ़िया नहीं करेंगे, वस्त्र भी ठीक से नहीं पहनेंगे, दान भी नहीं करेंगे। “यह सब तो भौतिक है, इन सब की क्या आवश्यकता है, यह तो अनित्य जगत् है” ऐसा नहीं है। भौतिक जगत् का अलग महत्व है, आध्यात्मिक जगत् का अलग महत्व है, दोनों का अपना-अपना महत्व है और दोनों की आवश्यकता हमारे लिए है। संध्या के पहले ही मन्त्र में कहा है दोनों ही चीजें चाहिए, अभीष्ट और पीति दोनों की आवश्यकता है। ‘अन्यदेवाहुर्विद्यया’ विद्या से अलग ही लाभ मिलता है और अविद्या से अलग ही लाभ मिलता है। जो व्यक्ति पाप आचरण से युक्त है वह सीधा-सीधा निष्काम कर्म कभी भी नहीं कर सकता है। पहले उसको सकाम कर्म करने होंगे फिर उसके बाद वह निष्काम कर्म की ओर बढ़ सकता है। अशुभ कर्म करने वाला व्यक्ति सीधे निष्काम कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है, उसके लिए मध्य में ये कार्य हैं। जैसे बहुत सारे लोगों का आकस्मिक परिवर्तन होता है, पीछे का जीवन बहुत ही गलत आचरण में व्यतीत किया होता है और अचानक किसी महापुरुष के सम्बन्ध में आते हैं, सत्संग में आते हैं अथवा ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करते हैं, जीवन को पूरा बदलना चाहते हैं, एकदम १००% बदलना चाहते हैं, तो वे सीधा-सीधा नहीं बदल सकते हैं। क्योंकि वे कर्म में लिप्त थे सीधा वे ध्यान उपासना, चिन्तन, मनन इनमें तल्लीन नहीं हो सकते हैं। उनको अशुभ कर्म से हटकर पहले शुभ कर्म में लगना होगा, जब शुभ कर्म करेंगे, शुभ कर्म करते-करते धीरे-धीरे उनके अंदर निष्कामता की ओर गति होगी, प्रगति होगी। जब तक व्यक्ति शुभ कर्म नहीं करता है तब तक निष्काम कर्म नहीं कर सकता, पहले शुभ कर्म करना आवश्यक है और जो व्यक्ति निष्काम कर्म नहीं करता है, वह कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर के दरबार में स्वार्थी व्यक्ति के लिए प्रवेश निषेध (NO ENTRY) है। आपको कुछ न कुछ परोपकार करना पड़ेगा। किस

रूप में करेंगे वह अलग बात है लेकिन करना अनिवार्य है, दोनों आवश्यक हैं। इस बात को अगले मन्त्र में भी बतायेंगे। ये सब बातें धीर लोग, बुद्धिमान् लोग, विद्वान् लोग हमको बताते आ रहे हैं। ग्यारहवाँ मन्त्र है —

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

कहते हैं — ‘विद्याञ्च अविद्याञ्च’ विद्या और अविद्या दोनों चाहिए। विद्या को भी जो जानता है और अविद्या को भी जो जानता है, परा विद्या को भी जो जानता है और अपरा विद्या को भी जो जानता है, कर्म उपासना को भी जानता है और तत्त्व ज्ञान आत्मा-परमात्मा को भी जो जानता है ऐसा व्यक्ति जो दोनों को साथ-साथ जानता है ‘अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते’ अविद्या से तो मृत्यु को तर जाता है, अविद्या का क्या अर्थ था ? कर्म। कर्म को हमने यहाँ अविद्या शब्द से लिया था। कर्म करने से क्या होता है ? ‘मृत्युं तीर्त्वा’ मृत्यु को पार कर जाता है। जब हम कर्म करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, प्रयत्न, सेवा, परोपकार करते हैं तो उससे हमें भौतिक संसाधनों की प्राप्ति होती है, जिससे हमारा जीवन चलता है। इस संसार में (Give and Take rule) लेना और देना चलता रहता है। आप दुकान जाते हैं, बाज़ार जाते हैं, कोई सामान खरीदते हैं, उनको पैसा देते हैं और सामान लेकर आते हैं। हम पैसा नहीं देंगे तो कोई सामान देगा क्या ? नहीं देगा। आप किसी से भी कुछ लेते हैं तो बदले में कुछ देना पड़ता है, देन-लेन की दुनिया है। संसार में हम कुछ देते हैं तो कुछ हमको मिलता है। आपने किसी को उपदेश दे दिया तो वह भी तो आपने कुछ दिया है। स्कूल में अध्यापक जो होते हैं, वे पढ़ाते हैं, वे कोई भौतिक पदार्थ नहीं देते हैं लेकिन उनको आजीविका के लिए धन मिल जाता है। जब हम किसी को कुछ देते हैं तब हमको कुछ मिलता है। जब हम देना बंद कर देंगे तो मिलना भी बंद हो जायेगा।

देने-लेने का यह संसार है, आप जो चीज देंगे वही मिलेगी, आप गाली देंगे तो आपको क्या मिलेगा ? गाली ही मिलेगी, आप किसी के साथ मारपीट करेंगे तो आपको भी मारपीट ही मिलेगी । दूसरों के साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करेंगे तो दूसरे भी आप के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करेंगे । जो हम देते हैं वही हमको प्रतिफल होकर प्राप्त होता है । कहीं पर नहीं भी होता है क्योंकि संसार में न्याय भी होता है, अन्याय भी होता है । कभी-कभी बिना दिए ही मिल जाता है । ऐसा कई बार हुआ है, जब हम ब्रह्मचारी थे तो बाजार जाते थे, कुछ सामान खरीदते थे । कभी ऑटोरिक्षा में बैठकर जाते थे तो रिक्षा वाला कहता था आपसे पैसा नहीं लूँगा, अब उसने हमसे कुछ लिए बिना ही सेवा दी । अब वह लेता नहीं तो उसको कुछ मिलता है या नहीं मिलता ? पुण्य मिलता है, उसने सेवा दी, सेवा के बदले में उसको पुण्य मिलता है और हमको ही निःशुल्क ले लिया दूसरों को क्यों नहीं लिया क्योंकि उनको पता है कि इनको निःशुल्क लेंगे तो अधिक पुण्य मिलेगा । कोई गरीब है उसको दान दे देते हैं तो बहुत पुण्य मिलेगा । जिसको आवश्यकता है और जो व्यक्ति जितना योग्य है, उसको जितना हम उपकार पहुँचाते हैं, उतना अधिक पुण्य हमको मिलता है तो यह देने-लेने का हिसाब है — मन्त्र में कहते हैं — ‘अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा’ जब हम कर्म करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, व्याख्याकार ने जैसे व्याख्या की है भौतिकवाद की जो उपासना करते हैं तो मृत्यु को पार हो जाते हैं । पहले कितने लोग रोग के कारण मर जाते थे, महामारी में गाँव का गाँव साफ हो जाता था, सारे लोग एकसाथ मर जाते थे । अब भौतिक उन्नति की है लोगों ने । वैज्ञानिकों ने भौतिक उन्नति की है तो मृत्यु को पार हो गये या नहीं हो गए ! जो अकाल मृत्यु होती थी उस मृत्यु को पार हो जाते हैं । किससे ? अविद्या से ‘अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा’ इन भौतिक पदार्थों का, भौतिक संसाधनों का जब हम उपयोग करते हैं, जब हम इनका प्रयोग करते हैं तब हमें जो शारीरिक स्तर पर कष्ट, बाधा, दुःख है ये

दूर हो जाते हैं, ये सब हट जाते हैं। जितना हम कर्म करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, भौतिक उन्नति करते हैं उसके द्वारा ये बाधाएँ दूर हो जाती हैं। भूख लगी, आपने कर्म किया, पुरुषार्थ किया भोजन बनाया खा लिया, एक बार पुरुषार्थ किया तो आपको छः घण्टे के लिए शांति मिल गई, बैठने को अवसर मिल गया। हम थोड़ा सा कर्म करते हैं और उससे बहुत अधिक फल को प्राप्त करते हैं और यदि भोजन नहीं करेंगे तो भजन भी नहीं कर सकते हैं। भोजन के बिना भजन कैसे करेंगे? एक बार भोजन न मिले तो चलेगा, एक दिन भोजन न मिले तो चलेगा लेकिन लम्बा नहीं चलेगा। भोजन के बिना भजन भी नहीं होगा इसलिए भजन करने के लिए भी हमें भोजन की आवश्यकता है। यह भौतिक उन्नति हमारे जीवन के लिए आवश्यक है इससे मृत्यु को पार कर जाते हैं। महर्षि दयानन्द जी 'मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ करते हैं मृत्यु के भय से छूट जाता है। व्यक्ति को मृत्यु से कब भय लगता है? आपके पास आपके घर में यदि अनाज नहीं है तो आपको लगेगा कि अब भोजन करने के लिए कुछ है नहीं तो भूखे मरेंगे, मृत्यु का डर रहेगा, भय लगेगा। और आपके पास सब संसाधन पहले से ही तैयार हैं, खाने को है, पीने को है, रहने को है, सब कुछ व्यवस्थित है सब ठीक है तो आपको मृत्यु का भय नहीं होगा। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' अविद्या से भौतिक उन्नति से, मृत्यु के भय को छोड़कर, मृत्यु के भय से पार हो जाता है और 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' विद्या से, परा विद्या से, तत्त्व ज्ञान से 'अमृतम्-अश्नुते' अमृत को प्राप्त कर लेता है। अमृत मोक्ष को कहते हैं तो यह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कैसे प्राप्त कर लेता है? विद्या से, तत्त्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, सभी दर्शनकारों का यह कथन है कि जब मिथ्या-ज्ञान को हम हटाते हैं, तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब मुक्ति की प्राप्ति होती है। तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने का सबसे पहला साधन बताया 'श्रवण'। जो हम शास्त्रों को पढ़ते हैं, इसी को कहते हैं आगम काल।

इसी को श्रवण काल भी कहते हैं। सबसे पहले आत्मा—परमात्मा के बारे में श्रवण करना होता है और श्रवण के बाद दूसरा कार्य होता है मनन जिसको हमने श्रवण किया, जिसको हमने पढ़ा उसके बाद उसका जाकर चिंतन करना है, विचार करना है, अपने अंतःकरण में विचार करना है कि जो शास्त्रों में लिखा है मुझे ऐसा लगता है कि नहीं लगता है। शास्त्रों में तो लिखा है — ‘विषयसुखं चाविद्या इति उक्तम्’ विषयों में जो सुख दिखता है, उसे अविद्या कहा है लेकिन हमें विषयों में सुख अनुभव होता है, शास्त्रकार तो उसे दुःख कहते हैं। शास्त्रकार का मत और हमारा मत परस्पर भेद हो गया तो हमको चिंतन करके देखना पड़ेगा कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? गहराई से हमको विचार करना पड़ेगा, बहुत अधिक प्रश्न-उत्तर करने पड़ेंगे। जब हम स्वयं प्रश्न-उत्तर करते हैं तब हमारी योग्यता बढ़ती है। स्कूल में अध्यापक, शिक्षक ने पढ़ा दिया, उतना मात्र जो सुनता है, इतना ही सुनने वाले व्यक्ति का स्तर ऊँचा नहीं होता है, वह विशेष आगे नहीं बढ़ पाता, जो व्यक्ति स्वयं कुछ सोचता है, स्वयं कुछ विचार करता है, स्वयं कुछ चिंतन करता है, स्वयं प्रश्नोत्तर करता है, वह आगे बढ़ता है। प्रायः करके लोग श्रवण करके बंद कर देते हैं। शास्त्र में आगे बतायेंगे श्रवण के बाद मनन करना, मनन के बाद फिर उसका निदिध्यासन करना होता है, निर्णय निकालना होता है। जितना हमने मनन किया, विचार किया, विचार करने के बाद उसका सार क्या निकलता है, उसको अपने जीवन के साथ जोड़ना है। ‘मैं ऐसा करूँगा/मैं ऐसा करूँगी’ यह जब हम निर्णय निकालते हैं, उसका नाम होता है निदिध्यासन। जब तक हम निर्णय नहीं निकालते, केवल शास्त्रों को पढ़ा, विचार किया, छोड़ दिया तब तक वे बातें हमारे जीवन में नहीं आतीं। निर्णय निकालना उसका अगला काम है, निर्णय निकालने के बाद फिर उसको व्यवहार में लाना है, साक्षात्कार करना है। निर्णय तो निकाल लिया कि आगे से मैं क्रोध नहीं करूँगा। निर्णय निकाल लिया कि आगे

से मैं झूठ नहीं बोलूँगा, आलस्य नहीं करूँगा लेकिन निर्णय निकालने मात्र से नहीं होगा, ऐसे प्रयोग करना पड़ेगा। जब-जब ऐसी स्थिति आयी तब अपने निर्णय को याद रखना है। स्थिति आई क्रोध करने की तो विचारना कि मैंने निर्णय कर लिया है, क्रोध नहीं करूँगा, चाहे कितनी भी हानि हो ! तब वह निर्णय व्यवहार में आयेगा। अभ्यास होने से झूठ निकल जाता है मुँह से, तो उसी समय उसको रोकना। पहले से जितना व्यक्ति संकल्प करता है, अवसर आने पर वह याद आता है। जब तक हमारा संकल्प कमजोर है या प्रबल नहीं है तब तक याद नहीं आएगा। अवसर आने पर ऐसे ही हम पतित होते रहेंगे लेकिन जब व्यक्ति का संकल्प मजबूत हो जाता है, प्रबल हो जाता है और बार-बार किया हुआ होता है तब अवसर आने पर व्यक्ति को याद आता है, तब व्यक्ति व्यवहार में ले आता है, जब व्यवहार में आ जाता है तब उसको पूरा तत्त्व ज्ञान हो गया है, ऐसा माना जाता है। जब तत्त्व ज्ञान पूरा हो जाता है तब व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त होता है। तत्त्व ज्ञान हो गया इसका क्या लक्षण बनेगा ? जब व्यक्ति के आचरण में कोई गलती दिखाई न दे तो समझना चाहिए कि इसको तत्त्वज्ञान हो गया। उसको लम्बे काल तक देखना पड़ेगा, एक दिन तो कोई नाटक भी कर सकता है। लम्बे काल तक देखें कि वह व्यवहार में कभी भी यम-नियम का भंग नहीं कर रहा है मतलब उसका ज्ञान अब परिपक्व हो गया है, ऐसा मानना पड़ेगा और व्यवहार में यदि यम-नियम का भंग कर रहा है तो अभी तत्त्व ज्ञान नहीं हुआ है, अभी उसका ज्ञान केवल शाब्दिक मात्र है। शाब्दिक ज्ञान और तत्त्व ज्ञान अलग-अलग हैं। हमारा जो व्यवहार होता है, वह शब्द ज्ञान के आधार पर नहीं होता है, तत्त्व ज्ञान के आधार पर होता है। हमारे अंदर जैसा ज्ञान हुआ है उसके आधार पर हम सारे कार्य करते हैं। जानते हम भले ही बहुत कुछ हैं। कई लोग बोलते हैं कि चाय पीना नहीं चाहते हैं, पर क्या करें पीनी पड़ जाती है। अभी चाय से क्या हानि है, उनको

तत्त्व ज्ञान नहीं हुआ है, इसलिए वे चाय पीते हैं। जब तत्त्व ज्ञान हो जाएगा कि चाय हानिकारक है फिर वे पी नहीं सकते। इस प्रकार हर जगह लागू करना है। कहीं भी हम क्रोध करते हैं, झूठ बोलते हैं, हमें उस-उस विषय में पूरा तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, अभ्यास बाकी है। अभ्यास करते-करते धीरे-धीरे व्यक्ति वहाँ तक पहुँचता है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते थे कि अभी जो आप ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, यह शाब्दिक ज्ञान है, सुनने से आपको जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दस प्रतिशत होता है और जब आपने उसके ऊपर विचार किया, मनन किया, चिन्तन किया, प्रश्न उठाये अपने-आप तो और २०% होता है, कुल ३०% हो जाता है। उसके ऊपर आपने निर्णय निकाला कि ऋषियों ने ऐसे कहा है और यही ठीक है तो मैं भी आगे से ऐसा ही करूँगा तो और ३०% हो जाता है। कुल कितना हो गया ? ६०%। जो आपने सुना था उस पर विचार किया, प्रश्नोत्तर किया, निर्णय निकाला और व्यवहार में ले आए तो ४०% और हो गया, कुल कितना हो गया ? १००%। १००% तो तब होगा जब हम व्यवहार में ले आएँगे। अब जो हम सुन, सुना रहे हैं, उसमें कितना प्रतिशत होगा ? १०%। आगे आपको करना है, करेंगे तो आगे बढ़ेंगे। एक-एक शब्द के ऊपर विचार करना है। जितना आप विचार करेंगे, जीवन में होने वाली कोई न कोई बात आपको अवश्य मिलेगी। हर मन्त्र में आप पढ़ते रहेंगे, पढ़ते रहेंगे तो कोई न कोई बात आपको लगेगी कि यह बात तो मेरे जीवन में है अथवा यह बात मेरे जीवन में नहीं है, यह बात मेरे जीवन में होनी चाहिए, यह बात नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार क्रम से हम तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होते हैं। भौतिक ज्ञान = भौतिक विद्याओं को प्राप्त करके व्यक्ति मृत्यु से पार हो जाता है, सांसारिक सुख को प्राप्त करता है कष्ट, पीड़ा, बाधा से रहित हो जाता है और आध्यात्मिक विद्या प्राप्त करके, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार करके 'अमृतम्-अश्नुते' अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। केवल

भौतिक विद्या को जानकर काम नहीं चलेगा, केवल अध्यात्म विद्या को जानकर काम नहीं चलेगा। दोनों चाहिए भौतिक उन्नति भी चाहिए आध्यात्मिक उन्नति भी चाहिए। विद्या भी चाहिए अविद्या भी चाहिए। अविद्या का अर्थ होता है कर्म। विद्या अर्थात् ज्ञान भी हमको चाहिए और कर्म भी। भोजन कैसे पकाया जाता है यह किसी ने सीख लिया, बढ़िया से जानता है लेकिन कभी भोजन पकाया ही नहीं तो फायदा क्या? किसी ने बहुत मेहनत करके गाड़ी चलाना सीख लिया लेकिन गाड़ी कभी चलाता ही नहीं तो क्या फायदा है? जो हमारे पास विद्या है, उस विद्या को आचरण में, कर्म में, प्रयोग में लाना है। मंत्र की पहली पंक्ति में कहा — ‘विद्याञ्च-अविद्याञ्च’ जो विद्या व अविद्या दोनों को जानता है ‘यस्तद्वेदोभयं सह’ जो दोनों को साथ-साथ जानता है, विद्या को भी जाना, अविद्या को भी जाना। ज्ञान भी प्राप्त किया और कर्म भी करता है। ज्ञान और कर्म इनको सन्तुलन बनाकर चलना यह सबसे बड़ी बात है। नहीं तो प्रायः व्यक्ति एकांगी प्रगति करता है, विद्या प्राप्त करते हैं तो केवल विद्या प्राप्ति में ही लगे रहते हैं, उनके जीवन में आचरण व अन्तःकरण की शुद्धि छूट जाती है और कुछ व्यक्ति ध्यान, साधना, उपासना, अध्ययन, स्वाध्याय ये सब छोड़ देते हैं, केवल समाज सेवा, परोपकार करने लग जाते हैं तो वह भी गलत है, यह भी गलत है, दोनों ही गलत हैं। विद्या भी प्राप्त करें अर्थात् ज्ञान भी प्राप्त करें और कर्म भी करें। जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसको कर्म में लाएं, प्रयोग में लाएं, आचरण में लाएं। जो दोनों करता है वह मृत्यु को भी प्राप्त कर लेता है और अमृतम् को भी प्राप्त कर लेता है। मृत्यु के भय से छूट जाता है। अमृत आनन्द को प्राप्त कर लेता है तो दोनों लाभ लें। अगला मंत्र है —

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याऽऽरताः ॥ १२ ॥

सम्भूति क्या है और असम्भूति क्या है ? देखते हैं । सम्भूति व असम्भूति को समझ गए तो आगे के तीन मंत्र का अर्थ ऐसे ही हो जाएगा और कोई विशेष नहीं हैं । ‘सम्भूति’ अच्छे प्रकार से होना, एकत्रित होना, संगठित होना, उसको कहते हैं सम्भूति और जो विपरीत है, उसको असम्भूति कहते हैं — एकत्रित न होना, संगठित न होना, व्यक्तिगत अकेले रहना, उसको कहेंगे असम्भूति । व्याख्याकार ने सम्भूति का अर्थ किया समाजवाद और असम्भूति का अर्थ किया व्यक्तिवाद । जैसे संगठन सूक्त में ‘सं गच्छध्वं सं वदध्वं’ हम सब मिलकर चलें और मिलकर बोले, हमारा विचार एक हो, हमारा लक्ष्य एक हो, सब कुछ एक हो इसको क्या कहेंगे ? सम्भूति । ‘सम्भूति’ का अर्थ होता है संगठन, एकत्रित होना और ‘असम्भूति’ का अर्थ होता है व्यक्तिगत अकेले रहना मिलना नहीं, पृथक्-पृथक् रहना । ‘अन्धन्तमः प्रविशन्ति’ येऽसम्भूतिम्—उपासते । जो केवल अपनी व्यक्तिगत उन्नति चाहते हैं, वे असम्भूति की उपासना करते हैं, जो व्यक्तिवाद को प्रधानता देते हैं, वे गहन अंधकार को प्राप्त होते हैं और कहा है — ‘ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याश्चरता’ उससे भी गहरे अंधकार को वे लोग प्राप्त होते हैं जो सम्भूति की उपासना करते हैं । हमारे यहाँ विश्व में राष्ट्रवाद चलता है, उसमें दो प्रकार की नीतियाँ चलती हैं — पूँजीवाद, समाजवाद । पूँजीवाद का अर्थ होता है, एक व्यक्ति चाहे कितनी भी पूँजी, कितना भी धन इकट्ठा करके रख सकता है । पुरुषार्थ करके अपने धन को बहुत अधिक बढ़ा सकता है, जैसे भारत में बहुत थोड़े लोग हैं, जिनके पास जितनी सम्पत्ति है उतनी सम्पत्ति सब के पास है मतलब १०% लोगों के पास जितनी सम्पत्ति है बाकी ९०% लोगों के पास उतनी ही सम्पत्ति है इतना अधिक तारतम्य है । थोड़े लोगों के पास इतना अधिक धन हो जाता है कि बाकी सबका धन मिलाकर उनके धन से कम होता है इसको कहते हैं पूँजीवाद । व्यक्तिवाद और समाजवाद में क्या होता है कि कोई व्यक्ति कितना भी अधिक पुरुषार्थ करे, कितना भी अधिक कमाए उसको

उसके जीवन के लिए जितना आवश्यक है उतना ही उसको दिया जायेगा बाकी सब सरकार ले लेती है और लेकर बाकियों को बाँट देती है। समाजवाद जिसके लिए आपने सुना होगा कम्युनिजम्। कम्युनिष्ट विचार जो है पहले रूस में और चाईना में ये मत बहुत अधिक प्रचलित हुए। समाजवाद समाज की ही मुख्यता है। इसमें जितना भी कोई धनोपार्जन करे, उसको अपने जीवन के लिए जितना आवश्यक है उसको उतना ही देते हैं और बाकी सब राष्ट्र के लिए चला जाता है। धन सबको समान रूप से बाँट देते हैं। अब उसमें क्या हानि है? जिस व्यक्ति के पास अधिक योग्यता है, उसको भी आप कम देंगे तो निश्चित रूप से वह उस काम को छोड़कर दूसरे काम में जाएगा अथवा दूसरे देश में चला जायेगा। समाजवाद में जिसके पास बहुत अधिक प्रतिभा है, उस प्रतिभा का उपयोग नहीं होगा। वह देखेगा एक व्यक्ति मजदूरी करता है और मैं इतना अन्वेषण करता हूँ, उसके बाद भी मुझे उतना ही मिलेगा जितना उसको मिलता है। वह उसमें मन नहीं लगायेगा यह समाजवाद की न्यूनता है। पूँजीवाद में क्या न्यूनता है? पूँजीवाद में कुछ लोग समाज के लोगों को लेकर काम करवाते हैं और काम करवाकर उनके परिश्रम से जो धन उपार्जन करते हैं, उससे अपना धन बहुत बढ़ा लेते हैं और जिनके परिश्रम से वह धन प्राप्त किया उनको वे बहुत कम धन देते हैं, उनका शोषण करते हैं। यह पूँजीवाद में दोष है। तो दोनों में कुछ-कुछ दोष हैं। यदि व्यक्ति केवल अपनी व्यक्तिगत उन्नति करना चाहे तो उसको कहेंगे 'असम्भूति'। असम्भूति का अर्थ है व्यक्तिवाद, केवल व्यक्ति अपनी ही उन्नति चाहता है और जो व्यक्ति सबकी उन्नति पर ध्यान देता है, अपनी व्यक्तिगत उन्नति छोड़ देता है उसको कहेंगे 'सम्भूति'। अब बहुत सारे लोग हैं, जो समाज व राष्ट्र के लिए काम करते हैं, अपने स्वास्थ्य के प्रति भी ध्यान नहीं देते हैं, अपने परिवार के प्रति ध्यान नहीं देते हैं, यह ठीक नहीं है। परिवार व अपने शरीर के प्रति जितना आवश्यक है उतना समय, शक्ति, धन उपयोग

करना और समाज, राष्ट्र के लिए भी कुछ कर्तव्य करना है। कुछ लोग केवल अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए कार्य करते हैं समाज व राष्ट्र के लिए कुछ भी नहीं करते हैं तो यह भी गलत है। व्यक्तिगत आप तब तक ठीक-ठाक रह पाएंगे जब समाज व राष्ट्र सुरक्षित है। जो समाज व राष्ट्र सुरक्षित नहीं है, समाज व राष्ट्र में व्यवस्था नहीं है तो आप कितना मानवीय जीवन जी सकते हैं। अतः दोनों आवश्यक हैं, केवल व्यक्तिवाद हो तो वह तो गहरे अंधकार में जायेगा और जो व्यक्तिवाद को छोड़कर केवल समाजवाद में जाता है वह और गहरे अंधकार में जायेगा। इसको थोड़ा इस रूप में समझिए — कल्पना कीजिए कोई व्यक्ति अपनी उन्नति करता है, अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखता है, अपने खाने-पीने का, रहने का यह सब ध्यान रखता है, परिवार का कुछ भी ध्यान नहीं रखता तो वह एकांत निन्दित स्वार्थी हो गया और वह पूर्ण स्वकेन्द्रित जीवन जीता है तो वह अंधकार को प्राप्त होगा। और एक व्यक्ति परिवार की उन्नति करता है लेकिन अपने परिवार की उन्नति करते हुए दूसरे परिवारों को यदि हानि पहुँचाता है तो वह भी व्यक्तिवाद ही हुआ, उसको समाजवाद नहीं कहेंगे। ऐसे ही कोई व्यक्ति अपने गाँव के लिए काम करता है, वह तो समाजवाद है ठीक है, समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करता है लेकिन जब अपने गाँव की उन्नति के लिए दूसरे गाँव को हानि पहुँचाता है तो वह समाजवाद नहीं होगा वह व्यक्तिवाद हो जायेगा। ऐसे ही कोई अपने राज्य के लिए काम करता है तो वह समाजवाद है लेकिन अपने राज्य के लिए दूसरे राज्यों को हानि पहुँचाता है तो वह समाजवाद न होकर व्यक्तिवाद हो जायेगा। कई राष्ट्र आपको देखने को मिलेंगे जहाँ के नागरिक व्यक्तिगत स्वार्थ को गौण करके राष्ट्र के लिए बहुत अधिक समर्पित रहते हैं, वहाँ तक तो ठीक है लेकिन वह अपने राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए जब दूसरे राष्ट्रों को हानि पहुँचाएंगे तो वह समाजवाद नहीं है, वह फिर व्यक्तिवाद में आ जायेगा। यह व्यक्तिवाद गहरे अंधकार को प्राप्त कराता

है और कहते हैं — ‘ततो भूय इव ते तमो’ उससे भी गहन अंधकार को वे प्राप्त होते हैं, ‘य उ सम्भूत्याश्चरताः’ जो समाजवाद में प्रवर्तित होते हैं, वे तो और गहरे अंधकार को प्राप्त होते हैं। हमारे जीवन में दोनों चीजें होनी चाहिए व्यक्तिगत उन्नति भी हो और सामाजिक उन्नति भी हो। केवल व्यक्तिगत उन्नति हो तो नहीं चलेगा, केवल समाज की उन्नति हो, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का ध्यान नहीं दिया जाए तो भी नहीं चलेगा। इसलिए इस मन्त्र में कहा दोनों के साथ हमको चलना है।

महर्षि दयानन्द जी ने इसका थोड़ा अलग से अर्थ किया है। महर्षि दयानन्द जी अर्थ करते हैं ‘सम्भूति’ सम्भूति का अर्थ होता है कार्य जगत्। संसार में जो कार्य जगत् है यह सम्भूति और असम्भूति कारण जगत्। कार्य जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, उस कारण जगत् को कहते हैं असम्भूति। अब अर्थ देखिए क्या हो जायेगा ‘अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते’। जो कारण जगत् की उपासना करते हैं वे तो गहरे अंधकार में जाते हैं और कहते हैं — ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याश्चरताः उससे भी गहरे अंधकार में वे लोग जाते हैं जो कार्य जगत् की उपासना करते हैं। अब इसको समझिए कार्य जगत् मतलब यह संसार, संसार के विषय भोगों में ही जो लोग लिप्त रहते हैं, उसी में ही जो रमण करते हैं, उसी की ही जो उपासना करते हैं, उसी को प्राप्त करने के लिए दिन-रात प्रयत्न करते हैं वह कार्य जगत् हो गया सम्भूति ‘सम्भूत्याश्चरताः’। महर्षि की व्याख्या के अनुसार जो कारण जगत् की उपासना करते हैं अर्थात् मूल कारणों की चर्चा करते हैं, आज की दृष्टि से देखें तो जो वैज्ञानिक आत्मा-परमात्मा को छोड़कर केवल इस संसार के कारणों के ऊपर चर्चा करते हैं। यदि वैज्ञानिक कह दें कि ईश्वर है तो लोगों पर प्रभाव पड़ेगा लेकिन वे आत्मा-परमात्मा के ऊपर कहते हैं यह हमारा विषय ही नहीं है। आत्मा-परमात्मा को विषय नहीं बनाते हैं, केवल कारण जगत् के ऊपर गवेषणा करते हैं, खोज करते हैं। आत्मा परमात्मा को छोड़ने के कारण ‘अन्धन्तमः

प्रविशन्ति' वे अंधकार को प्राप्त होते हैं और जो कारण जगत् में नहीं जाते हैं केवल स्थूल कार्य जगत् में डूबे रहते हैं, वे लोग अधिक अन्धकार/दुर्दशा को प्राप्त होते हैं। वैज्ञानिक कम से कम इतनी बुद्धि का प्रयोग करके इस संसार का कारण क्या है, उसके कारण की खोज करते-करते बहुत पीछे गए, वहाँ तक तो वे पहुँचे। लेकिन जो वहाँ तक भी नहीं जाते हैं, केवल कार्य जगत् की उपासना करते हैं — खाने-पीने, भोगने में, मौज-मस्ती में ही रहते हैं, वे और गहरे अंधकार में जाते हैं। कारण जगत् की उपासना करना अंधकार में जाना और कार्य जगत् की उपासना करना उससे भी और अधिक अंधकार में प्रविष्ट होना। ये दोनों बातें तब लागू होती हैं जब हम आत्मा-परमात्मा को छोड़कर केवल कार्य जगत् व कारण जगत् की उपासना करते हैं तो यह दुर्दशा प्राप्त होगी। सांख्यदर्शन व योगदर्शन में ये कारण जगत् की थोड़ी-थोड़ी चर्चा है। योगदर्शन में प्रकृति लय योगी के बारे में बताया वह मुक्ति जैसे अनुभव करता है सत्त्व, रज, तम प्रकृति है, प्रकृति में लीन होना यह उस योगी की विशेषता बताई गई है — वह मुक्ति को प्राप्त नहीं करते हैं लेकिन मुक्ति जैसे सुख को अनुभव करते हैं फिर उनको बाद में जन्म-मरण के चक्कर में आना पड़ता है, उससे उनकी कृतकृत्यता नहीं होती है। सांख्य दर्शन में बताया 'न प्रकृतिलयात् कृतकृत्यता मग्नस्य जलोत्थानवत्' कहते हैं जैसे पानी में कोई डुबकी लगाता है तो कितनी देर पानी में रह सकता है? थोड़ी देर रुकेगा फिर ऊपर उठेगा इस प्रकार ही प्रकृति की खोज में कोई रहे, उसी में डूबा रहे तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता 'न कृतकृत्यता'। कारण जगत् की उपासना करते हुए भी यदि हम आत्मा-परमात्मा को नहीं जानते तो कितना भी सत्त्व, रज, तम तक पहुँच जाएं अथवा वैज्ञानिक जैसे इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और उसके अन्दर तोड़कर कितने भी कारण जगत् की उपासना करें, वे कभी भी पूर्ण आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। कम से कम वे इतना गम्भीर खोज तो करते हैं लेकिन जो लोग

वह भी नहीं करते हैं, केवल यह संसार में जो बना हुआ है, उसी में ही डूबे रहते हैं तो कहते हैं वे उनसे भी अधिक गहरे अंधकार में प्रवेश करते हैं। कार्य जगत् और कारण जगत् दोनों की आवश्यकता अलग-अलग है। दोनों को हम आगे फिर पढ़ेंगे इस मन्त्र से इतना बताया कि कारण जगत् हमारी उपासना के योग्य नहीं है और न ही कार्य जगत् उपासना के योग्य है। इस रूप में दोनों की निन्दा करना यहाँ अभिप्राय नहीं है। जैसे पिछले मन्त्र में ज्ञान व कर्म के बारे में चर्चा हुई तो वहाँ न ज्ञान की निन्दा करना चाहते हैं न अविद्या (कर्म) की निन्दा करना चाहते हैं। इसी प्रकार यहाँ सम्भूति व असम्भूति की निन्दा करना नहीं चाहते हैं लेकिन केवल उसी में जो डूबा रहता है, आत्मज्ञान से दूर उसके बारे में चर्चा है, केवल उसी को जो अन्तिम लक्ष्य बनाता है, उसके बारे में यहाँ बताया कि वह ठीक नहीं है, उससे अतिरिक्त हमको आत्मा-परमात्मा के बारे में भी जानना आवश्यक है। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



नौवीं कक्षा

पीछे की कक्षा में जो पढ़कर आए हैं उसके ऊपर अध्यताओं से कुछ प्रश्न पूछते हैं ।

प्रश्न : सम्भूति क्या है और असम्भूति क्या है ?

उत्तर : सम्भूति — समाजवाद और असम्भूति — व्यक्तिवाद । जो केवल अपनी उन्नति को ही देखते हैं, दूसरों की परवाह नहीं करते कि समाज व राष्ट्र में क्या हो रहा है, यह व्यक्तिगत उन्नति असम्भूति हुई और जो समाज सेवा में ही लगे रहते हैं, अपने जो आवश्यक कार्य हैं, उनको भी नहीं करते हैं, उसे सम्भूति में रत कहते हैं ।

स्वामी जी — ठीक बताया और भी कोई ?

ब्रह्मचारी जी — यदि हम दूसरों को हानि पहुँचाते हैं तो व्यक्तिवाद हो जायेगा और सबकी उन्नति है तो समाजवाद । विशाल जी — महर्षि दयानन्द जी ने सम्भूति का अर्थ किया कार्य जगत् और असम्भूति का अर्थ किया कारण जगत् ।

‘सम्भूति’ भूति का अर्थ ‘होना’ अस्तित्व में होना । यह जो संसार हम देख रहे हैं जिसका अस्तित्व हमारे सामने है, उसको कहते हैं, कार्य जगत् और जो इससे पूर्व रूप है, यह कार्य जगत् जिससे उत्पन्न हुआ वह कारण जगत् है, उसको असम्भूति कहते हैं । संसार नित्य है या अनित्य चन्द्रदेव जी बताओ ? अनित्य है । आप बताइए विशाल जी — संसार प्रवाह से तो नित्य है वैसे अनित्य है । नित्य और अनित्य किसको कहते हैं ? जो हमेशा बना रहे उसे नित्य और जो समाप्त हो जाता है उसे अनित्य कहते हैं । आप और कुछ बता सकते हैं मनोज जी ? जिसकी

उत्पत्ति और विनाश होता है, उसको तो कहते हैं अनित्य और जिसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता उसको कहते हैं नित्य । १२वाँ मन्त्र :—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याऽऽरताः ॥ १२ ॥

असम्भूति में जो रत रहते हैं अर्थात् कारण जगत् में जो रमण करते हैं, कारण जगत् की ही उपासना करते हैं, वे गहरे अंधकार में जाते हैं और जो कार्य जगत् की उपासना करते हैं वे और भी गहरे अंधकार में जाते हैं । जो दोनों का समन्वय करते हैं और आत्मा-परमात्मा को साथ में जोड़कर चलते हैं, उनका जीवन सफल होता है ।

यदि आपने सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा हो ८वें सम्मुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में वर्णन किया है और उत्पत्ति के बारे में वर्णन करते हुए महर्षि ने कई नास्तिकों का पक्ष रखा है । एक नास्तिक ऐसा मानता है सब कुछ नित्य हैं । क्यों नित्य है ? वह कहता है, इनका जो कारण द्रव्य है वह नित्य है, न्यायदर्शन का सूत्र है — **सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ।** पाँच भूत नित्य होने से । नित्य की जो परिभाषा की है कि जो उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट नहीं होता है वह नित्य है । न्याय दर्शन में दो प्रकार की नित्यता मानते हैं, नित्य भी दो प्रकार और अनित्य भी दो प्रकार हैं । जैसे सृष्टि के आरंभ से लेकर अंत तक रहता है तो उसको भी आपेक्षिक नित्य कह देते हैं, बहुत लम्बे काल तक रहने से । न्याय दर्शन व वैशेषिक दर्शन में पाँच भूतों को नित्य माना गया है । न्यायदर्शनकार कहते हैं कि **सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात्** पाँच भूत क्योंकि नित्य हैं, इसलिए सारा संसार नित्य है और योगदर्शन की भाषा में कहें तो **‘ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः’** यह चौथे पाद का तेरहवाँ सूत्र है । कहते हैं जितना भी यह संसार हम देख रहे हैं, ये सब गुणों का ही स्वरूप है अर्थात् सत्त्व, रज, तम का ही रूप है । ये जो सब हम देख रहे हैं ये

सत्त्व, रज, तम है या उससे अलग है ? जैसे हम पुस्तक को देखते हैं ? टेबल को देखते हैं तो ये सब सत्त्व, रज, तम ही हैं या उससे अलग हैं ? वही है — सत्त्व, रज, तम । इसको अलग उदाहरण से समझिए कि आप के पास हलवा है तो हलवा, घी, सूजी, चीनी है या उससे अलग है ? वही है बस रूप बदल गया । योगसूत्र में बताया कि ते **व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मनः** । वहाँ पर प्रश्न उठाया कि आप सब कुछ को सत्त्व, रज, तम कहते हैं, ये हमको अलग-अलग क्यों दिख रहे हैं ? टेबल अलग, माईक अलग, पेन अलग । तो उन्होंने कहा **परिणाम-एकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्** उनका एक-एक परिणाम बना है, कुछ सत्त्व, रज, तम लेकर एक परिणाम बनाया गया तो उससे अलग वस्तु उत्पन्न हो गई । पूरा योगदर्शन और सांख्य दर्शन इसी को कहते हैं कि ये सब सत्त्व, रज, तम ही हैं, उसी के ही रूप हैं । अलग-अलग हमको जो दिख रहे हैं, उनका मूल कारण है :— उनकी मात्रा कितनी है और उनको किस रूप में बनाया गया है ? इन दोनों के आधार पर वस्तु का स्वरूप अलग हो जाता है । इसके ऊपर आपने कभी विचार किया होगा सत्त्व, रज, तम को लेकर सबसे पहले परमात्मा, महत्तत्त्व बनाता है, बुद्धि नामक तत्त्व बनाता है, बुद्धि के बाद अहंकार बनता है । अहंकार किससे बनाता है ? सत्त्व, रज, तम से जो महत्तत्त्व बना उस महत्तत्त्व से अहंकार बनता है **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेः महान्, महतोऽहंकारः.....** । प्रकृति से अर्थात् सत्त्व, रज, तम से महत्तत्त्व की उत्पत्ति और महत्तत्त्व से फिर अहंकार बनाता है महत्तत्त्व से अहंकार कैसे बनायेंगे ? व्यवहार में भी आप देखते हैं एक चीज से कोई एक चीज नहीं बनती है । केवल सूजी आपको दे दिया जाए, केवल आटा दे दिया जाए तो आप कुछ बना सकते हैं क्या ? कुछ भी नहीं बना सकते हैं । कोई न कोई दूसरी चीज मिले तो नई चीज बनती है महत्तत्त्व से अहंकार कैसे बनेगा ? महत्तत्त्व में फिर सत्त्व, रज, तम मिलाएगा ईश्वर । मैटेरियल तो सत्त्व, रज, तम ही है और कोई मैटेरियल नहीं है

तो सत्त्व, रज, तम से पहले महत्तत्त्व बनाया फिर महत्तत्त्व में कुछ और सत्त्व, रज, तम मिलाया तो उसके बाद अहंकार बनता है। सबसे पहले जो चीज बनती है वह महत्तत्त्व है वह सत्त्व गुण प्रधान है उसके बाद फिर सत्त्वगुण की मात्रा कम होती जाती है पृथ्वी को तमो बहुल मानते हैं और हमारा शरीर पार्थिव है इसलिए यह भी तमो बहुल है। दर्शन के बारे में आप गंभीरता से सोचें, इसलिए इस विषय को मैंने यहाँ रखा।

यह जो संसार उत्पन्न होता है, यह कार्य जगत् है। इस कार्य जगत् को ही जो सब-कुछ मानकर इसमें रमण करते हैं, बड़े सम्प्रदाय हैं उनकी मान्यताएँ ही ऐसी हैं कि शरीर आदि जो यह कार्य जगत् है, इसी के लिए ही सब-कुछ पुरुषार्थ करना चाहिए। सत्यार्थ प्रकाश में भी महर्षि ने उस श्लोक को दिया — ‘यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?’ कहते हैं जब तक जीना है सुख पूर्वक जीयो, अपने पास पैसा नहीं है तो ऋण करके भी घी पीओ, ऋण ले लिया और घी पी लिया। ऋण चुकाने की कोई आवश्यकता नहीं मरने के बाद शरीर भस्म हो जाता है, फिर कहाँ से आएगा अर्थात् पुनर्जन्म की बात नहीं मानते। कौन सा पाप कौन सा पुण्य, ये कौन हैं ? जो सम्भूति में रहते हैं, ऐसे व्यक्ति जो केवल शारीरिक, इन्द्रियों के सुख को भोगने के लिए रत रहते हैं, उनको तो कह दिया ‘ततो भूय इव ते तमो’ वे बहुत अधिक गहरे अंधकार को प्राप्त होते हैं। विदेश में लोग योग करते हैं। मैंने जैसे सुना है कि उनका योग करने का उद्देश्य भी यही है कि अधिक से अधिक भोग करना/भोग करने के लिए सामर्थ्य प्राप्त करना। कैसे हमारा शरीर सामर्थ्यवान् हो जिससे कि हम अधिक से अधिक भोग कर सकें, इस उद्देश्य से वे योग करते हैं। ‘ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याश्चरताः’ सम्भूति में इस कार्य जगत् में ही रमण करते हैं, इस में ही लगे रहते हैं। केवल शरीर के लिए ही सब लगे रहते हैं। हमारे अंदर भी यह स्थिति कुछ अंश में मिल सकती है! शरीर को आप नित्य मानते हैं या अनित्य ? अनित्य मानते हैं। योगदर्शन

में जो अविद्या की चर्चा की है उसमें सबसे पहले अनित्य को नित्य मानना और अनित्य को नित्य मानने में व्यास जी ने उदाहरण दिया — ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति । कहते हैं कि यह जो द्युलोक है यह कभी नष्ट हो जायेगा क्या ऐसा लगता है ? सूर्य भी कभी नष्ट हो जायेगा, ये चाँद, तारे हम बचपन से देखते आ रहे हैं, वैसे के वैसे ही हैं, रोज वैसे ही सूर्य उदय होता है, कभी लगता ही नहीं है कि यह कभी नष्ट होगा । कहते हैं कि ये हमको नित्य जैसे लगते हैं । ये हैं अनित्य लेकिन नित्य लगता है उदाहरण दिया — अमृता दिवि + ओकस् । ओकस् का अर्थ होता है घर । द्युलोक में जिनका घर, ऐसे अमृत शरीर वाले । कुछ लोग ऐसा मानते हैं, कुछ शरीरधारी अभी भी द्युलोक में भ्रमण करते हैं, वे अमर हैं, कभी भी मरते नहीं हैं । पौराणिकों में मान्यता प्रचलित है हनुमान जी अभी भी जीवित हैं अश्वत्थामा अभी भी जीवित हैं सशरीर जीवित हैं ऐसा मानते हैं । हम सब में से कोई भी ऐसे नहीं कह सकता कि मैं मरूँगा नहीं लेकिन किसी को नहीं लगता कि आज भी मेरी मृत्यु हो सकती है । कल्पना करो हमारे सामने कोई पिस्तौल लेकर खड़ा हो जाए तो उस समय हमें जैसे मृत्यु सामने दिखेगी, ऐसे कभी दिखती है क्या ? क्यों ज्ञानप्रकाश जी ? नहीं । किसी को भी नहीं लगता है कि आज मैं मर सकता हूँ । योगदर्शन में इसको एक क्लेश बताया अभिनिवेश क्लेश । ‘मा न भुवं भूयासम् इति’ । मैं ना होऊँ ऐसा न हो अर्थात् मैं सदा बना रहूँ । यह भावना सबके अंदर रहती है योगी को छोड़कर और जो जीवन मुक्त हो गए उनको छोड़ दीजिए बाकी सब के अंदर भावना बनी रहती है ‘मैं सदा बना रहूँ’ । यह क्या है ? यह कार्य जगत् की उपासना है, इस शरीर को ही मानते हैं । महर्षि के वाक्यों को आप पढ़ेंगे, ग्रन्थों को आप पढ़ेंगे, सूक्ष्मता से उनके भाव और विचार आपको स्पष्ट समझ में आएंगे । शरीर को वह कैसा मानते थे ? जीवनी भी पढ़ सकते हैं, उनके ग्रन्थों को भी पढ़ सकते हैं । युधिष्ठिर

जी को यक्ष ने प्रश्न पूछा कि इस दुनिया में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है ? अहानि — अहानि भूतानि गच्छन्ति हि यमालयम् । शेषाः स्थावरम्—इच्छन्ति किम्—आश्चर्यम्—अतः परम् ? प्रत्येक दिन कितने लाख लोग मरते हैं और शेष जो हैं सब कहते हैं कि मेरी मृत्यु न हो, ऐसी इच्छा सबके अंदर बनी रहती है, केवल मनुष्य की नहीं । योगदर्शन के व्यासभाष्य में बताया कि कीड़ा जो अभी-अभी पैदा हुआ है, उसके अंदर भी यही भावना बनी रहती है कि मैं न मरूँ । सबके अंदर भावना बनी रहती है । यही सबसे बड़ा आश्चर्य है । आत्म तत्त्व को हम नहीं जानते हैं । इस शरीर को ही हम अपना स्वरूप समझ लेते हैं । इसी बात को ये कहते हैं, इस प्रकार जो शरीर के पोषण में ही और शरीर के लिए आवश्यक जितने भौतिक साधन हैं, उन साधनों की प्राप्ति के लिए जो दिन-रात पुरुषार्थ करते हैं वे हैं 'सम्भूत्याश्चरताः' ।

एक दूसरी मान्यता भी प्रचलित है सब कुछ अनित्य है, न्यायदर्शन में भी यही बात उठाई 'सर्वम् अनित्यम्' महर्षि ने भी सत्यार्थ प्रकाश में लिखा 'सर्वम्—अनित्यम्—उत्पत्तिविनाशकारणात्' कहते हैं संसार में सब कुछ अनित्य है । क्यों अनित्य है ? 'उत्पत्तिविनाश-कारणात्' हमको संसार में उत्पत्ति और विनाश दिखाई देते हैं और जहाँ-जहाँ उत्पत्ति-विनाश होता है वह सब अनित्य है, यह दूसरा मत सबको अनित्य मानता है । शरीर को भी वे अनित्य मानते हैं, हम भी अनित्य मानते हैं लेकिन हमारे व उनके अनित्य मानने में अंतर है । शरीर को अनित्य मानते हुए भी उसका पालन-पोषण-रक्षण करना, उसको सुरक्षित रखना और अधिक से अधिक यह ठीक उपयोगी बना रहे इसके लिए प्रयत्न करना । इसमें कोई दोष नहीं है । यदि शरीर को अनित्य मानकर हम लापरवाही करते हैं, इसका ध्यान नहीं रखते हैं, भोजन के प्रति ध्यान नहीं, अनित्य शरीर के लिए क्या ध्यान देना, मकान अनित्य है साफ-सफाई रखने की क्या आवश्यकता है ? यह सब क्या है ? 'असम्भूति' । सब को अनित्य मानकर चलते हैं । एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय है, दस दिन का शिविर लगाते हैं, केवल

यही सिखाते हैं कि सब कुछ अनित्य है, सब कुछ क्षणिक है, आत्मा को भी वे क्षणिक ही बताते हैं, आत्मा भी क्षणिक है, बन्धन, मोक्ष, ज्ञान ये सब कुछ क्षणिक है, ऐसा मानते हैं। यह क्या है ? असम्भूति। शरीर की अनित्यता को समझते हैं, यहाँ तक तो ठीक है लेकिन सब-कुछ अनित्य मानना यह दोष है, आत्मा को भी अनित्य मानते हैं तो ये 'असम्भूति' की उपासना करते हैं। जो लोग संसार को अनित्य के रूप में ही देखते हैं, अनुचित उपेक्षा का भाव रखते हैं। आप लोगों ने सुना होगा चाणक्य जी ने कितना परिश्रम करके भारत के जो अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य थे उनको एकत्रित करवाया और एकत्रित करके वैदिक शासन व्यवस्था स्थापना की बहुत परिश्रम करके, पूरा जीवन झोंक दिया। उन्होंने जो साम्राज्य को एकत्रित किया उसके आगे चलकर कुछ पीढ़ी के बाद बताया गया कि संसार तो अनित्य है, यह राजकार्य भी अनित्य है तो सब कुछ छोड़ो ! ऐसे करके यह जो वैदिक मान्यता से अलग मिथ्या मान्यता है, सब कुछ अनित्य है, सबकी उपेक्षा करो। तो उपेक्षा के कारण ही जिस साम्राज्य को एकत्रित किया था चाणक्य जी ने वह साम्राज्य फिर छिन्न-भिन्न हो गया, शत्रुओं के हाथ में चला गया, पराजय हो गई, वैदिक मान्यता प्रायः लुप्त हो गई है, कारण क्या है ? वैदिक सिद्धान्तों को न समझने के कारण सबकुछ को अनित्य मानने लगे और सब-कुछ की उपेक्षा करने लगे, जिसका परिणाम यह आया। हमारी वैदिक मान्यता यह नहीं है कि इस संसार को ही नित्य मानकर इसका सर्वदा उपभोग करें अथवा वैदिक मान्यता यह भी नहीं है कि इन सबको अनित्य मानकर इनकी सर्वथा उपेक्षा कर दें। क्या करना है इसको अगले मन्त्र में बताया तेरहवाँ मन्त्र है —

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १३ ॥

‘इति शुश्रुम्’ यह पंक्ति जो है पिछले मन्त्र में थी उसी प्रकार यहाँ भी है। केवल ऊपर वाली पंक्ति में थोड़ा अंतर है। ‘अन्यदेव—आहुः सम्भवाद्’ जो १२वें मन्त्र में हमने सम्भूति पढ़ा था, उसको इस मन्त्र में कहा ‘सम्भव’। सम्भव और सम्भूति दोनों एक ही अर्थ को कहते हैं। एक में ‘क्तिन्’ प्रत्यय हो गया तो सम्भूति बन गया और अप् प्रत्यय कर देंगे तो सम्भव बन जाता है। सम्भूति जिस अर्थ को कहता है उसी अर्थ को यह सम्भव कहता है और ‘अन्यदेवाहुः—असम्भवाद्’ असम्भव से अलग लाभ होता है। असंभव का अर्थ असम्भूति। सम्भूति से हमें अलग लाभ होता है और असम्भूति से हमें अलग लाभ होता है, जिसको हमने पीछे देखा था व्यक्तिवाद और समाजवाद। व्यक्तिवाद में अलग लाभ होता है, उसका अलग प्रयोजन है, उसका अलग उद्देश्य है, उसके अलग फायदे होते हैं, समाजवाद का अलग लाभ है, अलग प्रयोजन है, अलग उद्देश्य है, दोनों का लाभ होता है। जब इस मन्त्र में दोनों को कह रहे हैं तो इसका मतलब पीछे वाले मन्त्र में इनकी निन्दा नहीं है, न व्यक्तिवाद की निन्दा है और न ही समाजवाद की निन्दा है। किसकी निन्दा है फिर ? केवल व्यक्तिवाद हो तो वह फिर हानिकारक है और केवल समाजवाद हो तो हानिकारक है। इसलिए महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज के दसवें नियम में लिखा है :— **प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतंत्र रहें।** कैसे समझें इसको ? जो व्यक्तिगत नियम है उसमें हम स्वतंत्र हैं। क्या करें, क्या नहीं करें ? लेकिन जो सामाजिक नियम है, उसमें हम परतंत्र रहें। छोटी-छोटी बातों पर भी यह वैदिक सिद्धान्त, वेद का नियम लागू हो जाता है। कल्पना कीजिए अभी भोजन का समय है, घण्टी लगेगी और भोजन में जायेंगे। अब घण्टी लगने पर सबको भोजन में समय पर पहुँचना अनिवार्य है, यह सामाजिक नियम है। सामाजिक नियम में हम परतंत्र हैं, हमको ठीक समय पर पहुँचना

है और वहाँ पाँच, छः, सात, आठ पदार्थ बने हुए हैं खाने के लिए । उनमें से हम क्या खाएँ, क्या न खाएँ ? वह हमारा व्यक्तिगत नियम है, उसमें हम स्वतन्त्र हैं, वहाँ चावल भी है, रोटी भी, जबरदस्ती नहीं है आपको चावल ही खाना है अथवा रोटी ही खानी है, आपको सब्जी व दाल दोनों लेनी है, ऐसी जबरदस्ती नहीं है; जो आपको पसंद है आप वह खाएँ लेकिन आप कहेंगे मेरे लिए पकौड़ी, हलवा बना दो तो वह आश्रम में जिस दिन बनेगा उसी दिन ही खाना है । क्या-क्या बनेगा यह सामाजिक नियम है । आश्रम के अधिकारियों ने जो विचार किया कि भोजन में ये-ये चीज़ होनी चाहिए, सामर्थ्य के अनुसार और शरीर की आवश्यकता के अनुसार । हमारे शरीर के लिए क्या आवश्यक है कितना पुष्टिकारक है, कितना लाभदायक है और सामर्थ्य कितना है, उसको देखकर संतुलन बनाकर वह बना दिया, उसमें हम परतंत्र हैं, मेरे लिए यह सब्जी बना दो यह नहीं चलेगा, जो सब्जी बनी है आपके अनुकूल है तो लीजिए नहीं तो दाल के साथ खा लीजिए, इस प्रकार सामाजिक नियम में हम परतंत्र हैं । जो-जो पदार्थ बने हैं उनमें से हम छोट सकते हैं, हम अपने लिए अलग से अपेक्षा नहीं रख सकते हैं । समय का पालन करना यह सामाजिक नियम है, इसमें हम परतंत्र हैं । सब जगह ऐसे ही लागू होता है ।

यदि आप योग के अंगों को देखेंगे तो उसमें कुछ व्यक्तिगत नियम भी हैं, कुछ सामाजिक नियम भी हैं । योग के पहले दो अंग क्या हैं ? यम और नियम । उनमें से जो यम हैं, वह सामाजिक कर्तव्य है और नियम व्यक्तिगत कर्तव्य है । नियम क्या है — शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये दूसरों से सम्बन्धित नहीं हैं, मैं अपने शरीर को, मैं अपने कक्ष को, अपने मन को पवित्र रखूँगा यह मेरे से संबंधित है, दूसरों से संबंधित नहीं है । मेरे अंदर कितना संतोष है, कितना असंतोष रहता है, इससे दूसरों को कोई हानि नहीं है, मैं तपस्वी बनता हूँ अथवा भोग विलास के साधनों का प्रयोग करता हूँ यह मेरे ऊपर है, उससे मेरा

जीवन प्रभावित होगा, दूसरे के ऊपर इसका ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्वाध्याय मैं करूँ तो मेरा ज्ञान बढ़ेगा, नहीं करूँ तो मेरा ज्ञान नहीं बढ़ेगा। इससे दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ईश्वर प्रणिधान करूँ या संसार का प्रणिधान करूँ यह मेरे व्यक्तिगत जीवन से संबन्धित है। सारे नियम व्यक्तिगत उन्नति से जुड़े हुए हैं। जो पाँच यम हैं ये सामाजिक नियम से जुड़े हुए हैं। मैं हिंसा करूँ तो हिंसा किसके साथ करूँ? अपने आपकी तो क्या हिंसा करूँ? वाचनिक और शारीरिक हिंसा जब भी होगी दूसरों के साथ ही होगी। हिंसा करते ही दूसरा व्यक्ति प्रभावित होता है समाज के ऊपर उसका प्रभाव पड़ता है? मैं झूठ बोलूँ तो अपने को तो क्या झूठ बोलूँ? दूसरों को ही झूठ बोलूँगा। झूठ बोलने से समाज के ऊपर दुष्प्रभाव पड़ता है। समाज की हानि होती है। मैं चोरी करूँ तो दूसरों की ही चोरी करूँगा, अपनी क्या चोरी करूँ तो चोरी करने से दूसरों के ऊपर प्रभाव पड़ता है, मैं विवाह करूँ या न करूँ यह मेरा व्यक्तिगत निर्णय है, इसमें समाज का कोई अधिकार नहीं है लेकिन मैं यदि व्यभिचार करूँ तो समाज प्रभावित होता है। व्यक्ति विवाह को ना करे यह उसकी स्वतन्त्रता है लेकिन यदि व्यभिचार करेगा तो समाज की ओर से दण्ड मिलेगा, ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्तिगत नहीं सामाजिक स्तर पर रहता है। जो ब्रह्मचारी गृहस्थ में जायेगा और ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे तो उसे सदाचारी माना जाता है। लेकिन जो व्यभिचार करता है ब्रह्मचर्य का भंग करता है तो वहाँ समाज प्रभावित होता है। 'अपरिग्रह' मैं अपने पास थोड़ा सामान रखूँ तो समाज में जो व्यवस्था है, वह बनी रहती है और मैं अनावश्यक इतना सारा इकट्ठा कर लूँ कि दूसरों के पास अभाव होगा तो अपरिग्रह का पालन करना, न करना समाज के साथ जुड़ा हुआ है। यमों का पालन है वह हमारा सामाजिक कर्तव्य है और जो नियमों का पालन है वह हमारा व्यक्तिगत कर्तव्य पालन है इसलिए महर्षि मनु ने बताया —

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० ४/२०

महर्षि मनु कहते हैं 'यमान् सेवेत सततम्' यमों का पालन आपको सतत करना चाहिए, लगातार यमों का पालन करना 'न केवलान् नियमान् भजन्' कोई व्यक्ति यदि ऐसा कहे कि देखो मैं कितना शुद्ध रहता हूँ, पवित्र रहता हूँ, हमेशा संतोष का पालन करता हूँ। हमेशा तप, स्वाध्याय करता हूँ, ईश्वर प्रणिधान बनाये रखता हूँ, सब करता हूँ। लेकिन वह यदि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन नहीं करता है तो उसके लिए महर्षि मनु कहते हैं — 'यमान् अकुर्वाणः पतति' केवल नियमों का पालन करते हुए जो यमों का भंग करता है, यमों का आचरण नहीं करता है वह पतित हो जाता है। नियमों में छूट है, किसी दिन बुखार है, सर्दी-जुकाम हो गया उस दिन स्नान नहीं किया, शौच का पालन नहीं कर पाया तो चलेगा उसमें कोई हानि नहीं है लेकिन मैं किसी एक दिन हिंसा करूँ यह नहीं चलेगा। किसी दिन मेरे को थोड़ा असंतोष हो गया, मैं जैसा परिणाम चाहता था वैसा परिणाम नहीं आया जिसके कारण असंतोष हो गया इतना तो चलेगा लेकिन किसी दिन मैं झूठ बोल दूँ यह नहीं चलेगा। शास्त्रकार मना करते हैं ऐसे नहीं होगा। यमों का तो सदा-सर्वदा पालन करना है, नियमों का यदि कभी पालन नहीं भी कर पाते तब भी उसमें कुछ अवकाश है, इतना दोष नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में भी यही बात बताई उन्होंने कहा कि अपतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावाद् विद्यते वा अर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥ (वै. ६-२-८) अर्थात् जो यमों का पालन नहीं करता है उसका अभ्युदय कभी भी नहीं होता है और नियमों का पालन नहीं करता है, कभी करता है कभी नहीं करता है तब भी अभ्युदय हो सकता है। व्यक्ति

उन्नति को प्राप्त कर सकता है, नियमों का कम व अधिक पालन करने से भी कर सकता है लेकिन जो यमों का भंग करता है वह कभी उन्नति को प्राप्त नहीं कर सकता। नियमों का पालन करने से हमारी आत्मिक उन्नति, व्यक्तिगत उन्नति अधिक होती है और जब हम यमों का पालन करते हैं तब हमारी चित्त की स्थिति प्रसन्न व भयमुक्त होती है, इसके साथ-साथ सामाजिक उन्नति विशेष होती है। समाज व्यवस्थित हो जाता है। एक स्वस्थ, बलिष्ठ समाज बनता है जब हम यमों का पालन करते हैं। यमों का महत्त्व सामाजिक नियमों के साथ जुड़ा हुआ है और नियमों का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन के साथ जुड़ा हुआ है तो — ‘अन्यद्-एव-आहुः’ ये जो व्यक्तिवाद और समाजवाद हैं इन दोनों का अलग-अलग लाभ है। व्यक्तिवाद में जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत उन्नति करना चाहता है उसको खूब अवसर होता है, जितना चाहे वह बढ़ सकता है, उन्नति को प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तिवाद का लाभ है और समाजवाद से लाभ क्या है — चाहे समाज में कितना भी निम्न स्तर का व्यक्ति हो उसको भी उसकी सर्वनिम्न आवश्यकता पूरी हो जाती है, दोनों का साथ-साथ समन्वय करना होता है। व्यक्तिवाद का अलग लाभ है और समाजवाद का अलग लाभ है। इसी मन्त्र को महर्षि दयानन्द जी के अर्थ के हिसाब से लेंगे तो कार्य जगत् से हमको अलग लाभ मिलता है, संसार में जितने भी कार्य पदार्थ हैं, (जो भी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं उनको कार्य कहते हैं,) उस कार्य जगत् से हमको अलग लाभ होता है और कारण जगत् से अलग लाभ होता है। कार्य और कारण दोनों का अलग-अलग प्रयोजन हैं, अलग-अलग स्थिति हैं, अलग-अलग लाभ हैं। जो कार्य जगत् को अधिक से अधिक जानते हैं, कार्य जगत् का प्रयोग करते हैं, उपभोग करते हैं, उसका बहुत लाभ होता है। हमने मकान बनाया तो मकान कार्य है, इस कार्य से बहुत लाभ लेते हैं अभी बैठकर आराम से, सुख से, शांति से पढ़ सकते हैं, धूप में बैठते हैं तो बहुत कष्ट होता है, मन में प्रसन्नता नहीं

होती है। और कारण जगत् के ऊपर ज्ञान प्राप्त करके कितने प्रकार के आविष्कार करते हैं। कोई कार्य जो उत्पन्न होता है वह कारण से होता है तो कारण जगत् को जानकर कार्य जगत् में विकास होता है। वैज्ञानिक जो खोज करते हैं, सूक्ष्मता से जो वस्तुओं का पदार्थों का विवेचन करते हैं उसके आधार पर वे कार्य में परिवर्तन लाते हैं। जितना अधिक वे कारण जगत् के ऊपर चर्चा करते हैं, अन्वेषण करते हैं, गवेषणा करते हैं, उसके आधार पर कार्य जगत् में परिवर्तन लाते हैं जो कि हमारे जीवन से सीधा जुड़ा हुआ है। **‘इति शुश्रुम धीराणां’** ऐसे हम सुनते आ रहे हैं, क्या सुनते आ रहे हैं **‘धीराणां’** धीर व्यक्तियों का यह वचन है, बुद्धिमान लोग, तत्त्वज्ञानी लोग ऐसी व्याख्या करते हैं, ऐसे विचार रखते हैं **‘ये नस्तद्विचक्षिरे’** जो लोग इनको अच्छे से समझते हैं, उन लोगों ने ऐसी व्याख्या की है, उनकी व्याख्या को हम इस रूप में समझते हैं — **‘इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे’** **‘ये’** जो लोग **‘नः’** हमारे लिए ऐसे उपदेश देते आ रहे हैं, उनके वचनों को हम सुनते हैं, पीछे बताया था यह जो वैदिक ज्ञान परम्परा है यह गुरु परम्परा से आती है, जो व्याकरण पढ़ते हैं वे जानते हैं, बिना गुरु से पढ़े व्याकरण का ज्ञान नहीं हो सकता है। दर्शन व उपनिषद् को गुरु मुख से पढ़े तब स्पष्ट होता है **‘इति शुश्रुम धीराणां’** हम धीर व्यक्तियों से ऐसे श्रवण करते आ रहे हैं। महर्षि दयानन्द जी की एक विशेषता है :— उन्होंने अपने ग्रन्थ में कहीं भी नहीं लिखा कि यह मेरी मान्यता है, मैंने इसकी खोज की है, सब जगह लिखते हैं कि वेद ही सबसे बड़ा प्रमाण है और वेद के साथ-साथ कह दिया ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक ऋषियों ने जो-जो कहा, उन्हीं बातों को ही उन्होंने तर्क से, प्रमाण से, युक्ति से पुष्ट किया है, अपनी कोई नई मान्यता की स्थापना नहीं की है। ऋषियों की परम्परा ऐसे ही होती है, वे अपने आपको सबसे बड़ा नहीं मानते हैं। प्रत्येक ऋषिकृत ग्रन्थ में आपको देखने को मिलेगा कि वे वेद को सर्वत्र प्रमाण के रूप

में प्रस्तुत करते हैं। सभी दर्शनों में आप देखिए—वेद के ऊपर कोई न कोई सूत्र होगा जिस सूत्र में यह बताते हैं कि वेद सबसे बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ है, हर दर्शन में यह मिलेगा। वेद को जो स्वयं समझ जाते हैं वह तो बहुत अच्छी बात है लेकिन जो नहीं समझ पाते हैं उनको ऋषियों की परम्परा से समझना है। मन्त्र इसी बात को समझाता है कि हम अपने आपको सर्वाधिक श्रेष्ठ न माने हमारी मान्यता में गलती हो सकती है। यदि हमारी मान्यता, हमारा विचार और हमारी अनुभूति ऋषियों के विचार के साथ मेल खाती है तो ही अपना विचार सही मानना चाहिए। मेरी अनुभूति यदि पीछे के ऋषियों की अनुभूति से विपरीत है तो अपनी अनुभूति को गलत मानना पड़ेगा। इसी बात को पुष्ट करने के लिए यह पंक्ति दो बार आई ‘इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे’ ऐसे ही हम धीर व्यक्तियों से, बुद्धिमान व्यक्तियों से सुनते हैं जो इसकी विशेष व्याख्या करते हैं; उन विशेष व्याख्याकारों के मत के अनुकूल ही व्याख्या करते हैं। अगला मन्त्र—

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयञ्चसह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

वैसी ही बात है जैसे ग्यारहवें मन्त्र में थी। ‘सम्भूतिञ्च विनाशञ्च’ सम्भूति को भी और विनाश को भी ‘यः’ जो व्यक्ति, जो मनुष्य, जो साधक, उपासक, अध्येता ‘वेदोभयञ्चसह’ दोनों को साथ-साथ जानता है ‘विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा’ विनाश से मृत्यु को पार करके ‘सम्भूत्या’ सम्भूति के द्वारा अमृत को प्राप्त हो जाता है।

देखिए पहले मन्त्र में था सम्भूति और असम्भूति, दूसरे मन्त्र में कर दिया सम्भव और असम्भव इस मन्त्र में है सम्भूति और विनाश। तो सम्भूति के स्थान पर सम्भूति है और असम्भूति के स्थान पर कर दिया विनाश। तो असम्भूति जो कारण जगत् था उसको विनाश कैसे कहेंगे? कार्य जगत् को विनाश कहें तो भी कुछ समझ में आता है, कारण जगत्

को यहाँ विनाश शब्द से कहा है। व्याकरण शास्त्र पढ़ने से यह कुछ अधिक समझ में आता है। महर्षि ने इसका अर्थ किया — **विनश्यन्ति = पदार्था अदृश्या भवन्ति यस्मिन् तद् विनाशम्** जिसमें सारे पदार्थ अदृश्य नाश को प्राप्त होते हैं। नाश का अर्थ नष्ट होना, नष्ट होने का मतलब सांख्य दर्शन में सूत्र भी आया है **‘नाशः कारणे लयः’** और व्याकरण में तो पढ़ते हैं **‘णश अदर्शने’** नाश का अर्थ होता है अदर्शन हो जाना। अदर्शन हो जाना मतलब दिखेगा नहीं लेकिन नाश का अर्थ पूरा खत्म/अभाव हो जाए, ऐसा कोई नहीं मानता है, विज्ञान भी नहीं मानता, दर्शन भी नहीं मानता। जो भी पदार्थ है वह सर्वथा अभाव हो जाए ऐसा कभी नहीं होता है। अंग्रेजी में इसको कहते हैं — Matter neither can be created nor can be destroyed. कोई भी पदार्थ नया उत्पन्न नहीं हो सकता और कोई भी पदार्थ सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त नहीं होता है। अभाव से भाव हो जाए यह कभी भी सम्भव नहीं है, कुछ भी नहीं था एकदम नया आ गया, उसका कोई मूल, उपादान कारण नहीं है केवल शून्य से उत्पन्न हो गया यह वैदिक दर्शन नहीं मानता है और विज्ञान भी नहीं मानता है। जादू-टोना हाथ इधर-उधर घुमा दिया और घड़ी आ गई, हाथ घुमा दिया अँगूठी आ गई ये सब जादू-टोना या तो हाथ की सफाई (कलाकारी) है अथवा ये भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। अभाव से भाव कभी नहीं होता है, सभी दर्शनों का सिद्धान्त है और जिसका भाव है, जिसकी सत्ता है उसका विनाश भी कभी नहीं होता, यदि किसी का अस्तित्व है तो उसका सर्वथा विनाश कभी नहीं होता। दही दूध से ही बनता है बिना दूध नहीं बन सकता अभाव से नहीं बन सकता, दही नया बनता है लेकिन दूध से बनता है, बिल्कुल अभाव से दही नहीं बना सकते हैं और दूध समाप्त हो जाता है तो समाप्त होकर एक दम गायब नहीं हो जाता वह दूध ही दही के रूप में बदल जाता है। किसी का भी पूर्ण विनाश व नयी उत्पत्ति नहीं होती। विनाश का अर्थ कारण जगत् महर्षि ने किया। स्वामी शंकराचार्य

जी ने इसको विपरीत किया क्योंकि सम्भूति और असम्भूति है तो विनाश के अर्थ में उन्होंने सम्भूति को विनाश लिखा है और असम्भूति को सम्भूति लिखा है 'अ' का लोप हो गया ऐसे शंकराचार्य जी ने संगति लगाई है। लेकिन महर्षि ने मन्त्र को न बदलते हुए ऐसे ही रखते हुए अर्थ किया **विनाश्यन्ति पदार्था यस्मिन्** पदार्थ जहाँ पर विनाश को प्राप्त होते हैं, जिसमें विनाश को प्राप्त होते हैं वह है विनाश अर्थात् कारण जगत्। मन्त्र कहता है — '**सम्भूतिञ्च विनाशञ्च**' सम्भूति यह कार्य जगत् और विनाश यह कारण जगत् '**च**' इन दोनों को '**यस्तद्वेदोभयश्चसह**' जो व्यक्ति इन दोनों को साथ-साथ जानता है। केवल कार्य जगत् को जानता है तो भी काम नहीं चलेगा। केवल कारण जगत् को जानता है तो भी काम नहीं चलेगा। दोनों को जो व्यक्ति साथ-साथ जानता है वह '**विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा**' विनाश से मृत्यु को पार हो जाता है 'विनाश' का अर्थ हमने किया था 'कारण जगत्', कारण जगत् के द्वारा मृत्यु को तर जाता है, मूल कारण को जब व्यक्ति जानता है, मूल प्रकृति को जानता है तो उसको मृत्यु से डर नहीं लगता है।

यह जो मूल कारण है यह क्या है ? स्वामी सत्यपति जी योगशिविर में प्रलय अवस्था सम्पादन करवाते थे। सब चीजों को बौद्धिक स्तर पर पूरे संसार को वे प्रलय अवस्था में सम्पादित करवाते थे। जैसे आप शरीर में हो अब इस शरीर को पीछे से देखते आओ जन्म के बाद आपको जब से याद है, कल्पना करो दो साल के आप थे या तीन साल, चार साल जब तक का आपको याद है, उस स्थिति को स्मरण करो ! उसके बाद थोड़े और बड़े हो गए और बड़े हो गए। दो साल के बाद, चार साल, पाँच साल के बाद ऐसे धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते यहाँ (वर्तमान) की स्थिति तक पहुँचाते थे, फिर कहते थे कि देखो यह शरीर परिवर्तन हो रहा है इसको अनुभव करो फिर इसके बाद शरीर को आगे-आगे बढ़ाते

हैं, एक साल के बाद कैसा हो जायेगा ? दो साल, पाँच साल के बाद कैसा होगा ? दस साल के बाद कैसा होगा ? बीस साल के बाद, तीस, चालीस, पचास जिसकी जितनी उम्र है साठ, सत्तर, अस्सी साल के बाद तो कैसा लगेगा शरीर कहाँ जायेगा ? वह प्रलय में अनुभव कराते थे कि शरीर नष्ट हो जायेगा । इसका अभ्यास कराते थे जैसे अपने शरीर का अभाव हो गया ऐसे ही सब मनुष्य जितने भी हैं सबका ऐसे बौद्धिक स्तर पर चिन्तन करो और उसके बाद फिर वह कहते थे ये सब मनुष्य तो मर जायेंगे लेकिन इनके जो सन्तान (पुत्र, पौत्र) हैं वे तो रहेंगे तो उनका भी फिर ऐसे सौ-दो सौ साल (१००-२०० साल) के बाद क्या होगा ? ऐसे करते-करते सृष्टि के अंत तक पहुँचाते थे सब मनुष्य, सब प्राणी, ये सब वृक्ष-वनस्पति, फिर सूर्य, चन्द्र, धरती सब को वह बौद्धिक स्तर पर प्रलय अवस्था बनाते थे, कहते थे इसको जो व्यक्ति अनुभव करता है उसको मृत्यु से डर नहीं लगता है । क्योंकि उन्होंने वास्तविकता को स्वीकार कर लिया कि यह शरीर हमेशा रहने वाला नहीं है । इसके कारण का ज्ञान हो जाता है, पाँच भूत से यह शरीर उत्पन्न हुआ और यह शरीर पाँच भूत में जाकर लीन हो जायेगा, भूतों से उत्पन्न भूतों में लीन हो जायेगा ऐसे जो विनाश (कारण जगत्) को जानता है उसको मृत्यु से डर नहीं लगता है । क्योंकि शरीर का कारण आत्मा नहीं है, शरीर का कारण पाँच महाभूत हैं और पीछे जायेंगे तो सत्त्व, रज, तम हैं, जो नित्य हैं; ये इस शरीर के कारण हैं तो शरीर के कारणों को जो व्यक्ति ठीक-ठीक जानता है उसको मृत्यु का कभी भय नहीं लगता है और सम्भूत्याऽमृतमश्नुते सम्भूति का अर्थ हमने कार्य जगत् किया था तो कार्य जगत् के द्वारा इसको प्रयोग करते-करते वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है । इसको योगदर्शन की भाषा में कहें तो भोग + अपवर्गार्थं दृश्यम् भोग संसार की वस्तुओं का प्रयोग, उपयोग करते हुए वह अपवर्ग को प्राप्त करता है । यह शरीर

किसलिए मिला है ? यह शरीर हमको अपवर्ग की प्राप्ति के लिए मिला है, जिस प्रयोजन के लिए मिला है उसी प्रयोजन के लिए हम प्रयोग करें। भोजन, वस्त्र, मकान जितने भी पदार्थों का हम प्रयोग करते हैं इन सबको यदि हम मुक्ति का लक्ष्य बनाकर प्रयोग करते हैं तो ये हमारे लिए उपयोगी हो जाते हैं और गलत कार्य में प्रयोग करते हैं तो ये बन्धन का कारण बनते हैं। संसार के पदार्थों को कार्य जगत् का उपयोग करते-करते व्यक्ति 'अमृतम्-अश्नुते' अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। कारण जगत् को जानते हैं तो मृत्यु से डर नहीं लगता है और कार्य जगत् को ठीक-ठीक जानकर उसका ठीक-ठीक उपयोग करते हैं तो हमारा प्रयोजन जो भोग, अपवर्ग है, वे दोनों ही पूरे हो जाते हैं। सांसारिक पदार्थों का प्रयोग करते हुए मुक्ति तक पहुँच जाते हैं।

एक व्याख्याकार ने व्याख्या की है कि सम्भूति का अर्थ समाजवाद और असम्भूति का अर्थ व्यक्तिवाद तो उसके अनुसार अर्थ यदि करेंगे तो असम्भूति अर्थात् व्यक्तिवाद विनाश जिसको कहते हैं। जब हम इसको व्यक्तिवाद कहेंगे तो यह विनाश अर्थ कैसे होगा, यहाँ व्यक्ति की प्रधानता है, व्यक्ति मुख्य हो जाता है, विनाश इसलिए कह दिया कि अपना व्यक्तिगत अस्तित्व, व्यक्तिगत विचार, मान्यता यहाँ प्रबल हो जाती है। इसलिए असम्भूति को विनाश शब्द से कहा गया है। विनाश = व्यक्तिवाद में मनुष्य स्वयं के ऊपर ही पूर्णरूप से केन्द्रित रहता है। अपने लिए खाने, पीने, जीने के साधन अधिक से अधिक इक्कठ्ठा करता है। इससे क्या लाभ होगा ? भूखा, प्यासा नहीं मरेगा, रोग आदि से मरेगा नहीं, मृत्यु को पार कर जाएगा क्योंकि पर्याप्त साधन हैं। इससे आगे आन्तरिक सुख, शान्ति, सन्तोष, आनन्द अमृतत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

जो समाजवाद है सबके हित में ही अपना हित देखना। जो भी हम समाज में उन्नति करते हैं तो समाज में सब की उन्नति हो तो उसके

अंदर अपनी उन्नति भी हो जायेगी। समाज का अर्थ क्या होता है व्यक्ति-व्यक्ति को लेकर समाज होता है, समाज की उन्नति हो जाए, जब सब के लिए व्यवस्था हो जाती है तो हमें सुरक्षा मिल जाती है, मृत्यु से डर नहीं लगता है। यदि सरकार की ओर से ऐसा नियम हो जाए कि प्रत्येक नागरिक को भोजन, वस्त्र, आवास मिलेगा किसी को अभाव नहीं होगा। यदि ऐसी व्यवस्था हो जाए तो व्यक्ति को अपने भविष्य की चिन्ता में जो वह डरता रहता है कि पता नहीं आगे क्या होगा ? आगे खाने को मिलेगा या नहीं मिलेगा यह जो भय रहता है वह भय समाप्त हो जायेगा। जब खाने, पीने, जीने की चिन्ता नहीं रहती तब व्यक्ति शरीर से आगे समाज/राष्ट्र अथवा आध्यात्मिक उन्नति, मुक्ति के लिए सोचने में समर्थ होता है। सम्भूति = समाजवाद से परिवार में हम अपने आपको निर्भीक अनुभव करते हैं क्यों ? हमको लगता है कि मुझे कोई कष्ट आ जाए तो मेरे साथ रहने वाले दूसरे व्यक्ति हैं, ये मेरी रक्षा करेंगे, ये मेरी सहायता करेंगे, हर व्यक्ति ऐसे अपने आपको सुरक्षित अनुभव करता है। जहाँ हम अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को छोड़ देते हैं, सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझते हैं वहाँ हम अपने आप को पूर्ण सुरक्षित अनुभव करते हैं।

संस्था में रहने का मुख्य उद्देश्य क्या होता है ? हम व्यक्तिगत कार्य करेंगे तो हम जितना कार्य करेंगे या कर सकते हैं, संस्था में रहने से कई गुणा अधिक कार्य कर सकते हैं। लोक में बहुत प्रसिद्ध है — एक और एक की ताकत ($1 + 1 \neq 2$) मिलने से दो नहीं होते हैं, कहते हैं एक और एक मिलने से ग्यारह ($1 + 1 \Rightarrow 11$) होते हैं अगर आप अकेले काम करेंगे तो कितना काम कर सकते हैं ? लेकिन यदि आप दोनों मिल जायेंगे तो ग्यारह व्यक्ति जितना काम कर सकते हैं उतना काम आप दो व्यक्ति मिलकर कर सकते हैं। यह संगठनवाद का लाभ है। महर्षि दयानन्द जी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में 'वेदोक्त धर्म विषय' ऐसा एक विषय

रखा है और उसमें संगठन सूक्त के चार मन्त्रों की वहाँ प्रस्तुति की है अर्थात् संगठन को वेद का वर्णित धर्म माना गया। हम जो आर्य लोग, विद्वान लोग जब संगठित हो जाए तो कितना लाभ हो जायेगा। आज संसार में, समाज में, जो दुष्ट लोग हैं वे बहुत संगठित होकर काम करते हैं और जो शिष्ट लोग हैं बिखरे-बिखरे हैं, एक-दूसरे से मिले हुए नहीं हैं, आज भी संसार में शिष्ट लोगों की संख्या अधिक है लेकिन इनकी शक्ति व साधन सब पृथक-पृथक हैं, सब मिले हुए नहीं हैं। ये सब यदि मिल जायें तो दुष्ट इनके सामने आने में डरेंगे लेकिन हमारा संगठन न होने के कारण वे दुष्ट व्यक्ति थोड़े होने पर भी हमारे ऊपर अत्याचार, अन्याय करते हैं। यह व्यक्तिवाद असम्भूति की महिमा है कि **‘विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा’** विनाश व्यक्तिवाद के द्वारा व्यक्ति मृत्यु से छूट जाता है जीवन चलता रहता है, अधिक कुछ लाभ नहीं होता। संगठन होने से हर व्यक्ति अपने आप को सुरक्षित अनुभव करता है, अपने लिए उसे सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने लिए न सोचकर वह संगठन के लिए पूरी शक्ति लगा देता है और **‘सम्भूत्याऽमृतमश्नुते’** सम्भूति का अर्थ संगठन, समाजवाद। व्यक्तिगत जीवन को देखते हैं तो व्यक्तिगत जीवन में जो व्यक्ति उन्नति करता जाता है, समाज में रहता है, समाज में रहते हुए व्यक्तिगत उन्नति को नहीं छोड़ता है सामाजिक उन्नति, व्यक्तिगत उन्नति करनेवाला व्यक्ति मोक्ष तक पहुँच जायेगा और समाज व राष्ट्र के लिए परोपकार के लिए केवल जीवन लगा दिया, अपनी उन्नति के लिए कोई ध्यान नहीं देता तब तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता, समाज का बहुत बड़ा उपकार कर सकता है, समाज का कल्याण कर सकता है, बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकता है। जो व्यक्ति समर्पित होकर किसी संस्था के लिए, समाज व राष्ट्र के लिए काम करता है बहुत कुछ कर सकता है लेकिन मुक्ति व व्यक्तिगत उन्नति के लिए उसको खुद को प्रयत्न करना

आवश्यक है, दोनों आवश्यक हैं हम मृत्यु से भी बचें अर्थात् हमारी सामाजिक आवश्यकताएँ, भौतिक आवश्यकताएँ भी पूर्ण हों और मुक्ति भी प्राप्त हो। दोनों आवश्यकताएँ प्राप्त करने के लिए दोनों को साथ लेकर चलना है। यह उपनिषद् हमको समन्वय सिखाता है। हम केवल व्यक्तिगत उन्नति में तृप्त न हो जाएँ, सामाजिक उन्नति के लिए भी प्रयत्न करें और हम केवल सामाजिक उन्नति के लिए सब कुछ समर्पित कर दें, व्यक्तिगत आत्मिक उन्नति न करें यह भी नहीं है। दोनों उन्नति करें तो हमारा जीवन सफल हो जाता है। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



दसवीं कक्षा

सम्भूति और असम्भूति क्या है ? सम्भूति = कार्यजगत्, असम्भूति = कारण जगत् यह एक अर्थ है । दूसरा अर्थ किया था सम् + भूति = संगठन, समाजवाद और असंभूति = असंगठन = व्यक्तिवाद । कार्य जगत् और कारण जगत् दोनों जीवन के लिए उपयोगी हैं किन्तु ये दोनों अन्तिम उपास्य नहीं, जीवन का अन्तिम लक्ष्य इनको नहीं मान सकते हैं । इनके बिना भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं । दोनों ही साधन हैं, दोनों का अलग अलग लाभ है । दोनों को जो साथ-साथ जानता है, एक से जीवन निर्वाह ठीक हो जाता है, मरता नहीं है और दूसरे से मुक्ति की यात्रा पूरी हो जाती है, अमरत्व को पा लेता है । आगे पन्द्रहवाँ मन्त्र है —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

मन्त्र में पहला शब्द है हिरण्य, हिरण्य कहते हैं सोने को, चमकीले पदार्थ को । सोना भी चमकता है इसलिए सोने को भी हिरण्य कहते हैं । हिरण्य शब्द व्याकरण की दृष्टि से 'ह्र्य गतिकान्त्योः' धातु से बनता है । कान्ति का अर्थ है सुन्दरता । शब्द की बनावट व्याकरण शास्त्र बताता है और अर्थ के आधार पर शब्द की व्याख्या निरुक्त करता है । निरुक्त शास्त्र में प्रकृति प्रत्यय से भिन्न अर्थ बताया गया है । निरुक्त शास्त्र में बताया गया है — 'अर्थनित्यं परीक्षेत' अर्थ की नित्यता की परीक्षा = ज्ञान करना चाहिए । शब्द का अर्थ तो पहले से है, उसको निरुक्तकार किसी उक्ति वाक्य वचन से ज्ञात कराते हैं । 'न शब्दसंस्कारमाद्रियेत'

शब्द का जो संस्कार है अर्थात् धातु-प्रत्ययगत अर्थ पर आग्रह नहीं करना चाहिए। किसी शब्द का धातु-प्रत्यय से कोई अर्थ आ रहा है और शब्द का वास्तविक अर्थ कुछ और आ रहा है तो धातु प्रत्यय के अर्थ को छोड़कर यथार्थ अर्थ को लेना चाहिए। निरुक्त शास्त्र में बताया 'हिरण्यं कस्मात्' ? हिरण्य को हिरण्य क्यों कहते हैं ? किसी पदार्थ को किसी नाम से क्यों बोला जाता है ? उत्तर दिया 'द्वियते जनात् जनम् इति' एक मनुष्य से दूसरे के पास जिसका हरण किया जाता है वह है हिरण्य। चाहे क्रयविक्रय में हो अथवा उत्तराधिकारी रूप में हो सोने को, हिरण्य को बहुत विशेष लिया जाता है। 'हितरमणं भवतीति वा' हितकारी रमण होता है, सोना मिल जाए तो व्यक्ति खुश हो जाता है, इसलिए हिरण्य कहते हैं। आगे कहा 'हृदयरमणं वा' हृदय जिसमें रमण करता है वह है हिरण्य। शतपथ ब्राह्मण में कहा 'ज्योतिर्हि हिरण्यम्'। ज्योति = प्रकाश = चमकीले पदार्थ को हिरण्य कहते हैं। यहाँ मन्त्र में जो आया 'हिरण्मयेन' सारे चमकीले पदार्थ लिए जाएँगे केवल सोना नहीं। जितने भी चमकीले पदार्थ हैं उन सबको यहाँ मन्त्र में कहते हैं 'हिरण्मयेन पात्रेण'। पात्र क्या होता है ? जिसमें कुछ रखा जाता है, जो किसी को सुरक्षित रखता है उसको पात्र कहते हैं। 'पाति रक्षति' जो रक्षा करता है। अब कल्पना कीजिए हम भोजन करते हैं तो पात्र में लेकर भोजन करते हैं और पात्र न हो तो कैसे भोजन करेंगे, भोजन की रक्षा नहीं हो पायेगी तो इसलिए जिसके द्वारा रक्षा होती है उसे पात्र कहते हैं। 'हिरण्मयेन पात्रेण' चमकीला एक पात्र है, बहुत अच्छा चमकीला एक पात्र है, उस पात्र के द्वारा। 'सत्यस्यापिहितं मुखम्'। 'सत्यस्य मुखम्' सत्य का जो मुख है वह 'अपिहितम्' ढका हुआ है। अपिहितम् में 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से क्त प्रत्यय है। जैसे एक मन्त्र हम आचमन के समय पढ़ते हैं। पहला मन्त्र है आचमन का ? 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' और दूसरा 'अमृतापिधानमसि स्वाहा' उसी को ही यहाँ 'अपिहितम्' कहते हैं।

वहाँ क्या प्रार्थना करते हैं ? हे परमात्मन् ! आप 'उपस्तरण' जीवन का आधार बनें । मीमांसा में यज्ञ करने से पहले कुशा/दर्भ को बिछाते हैं तो उसको 'उपस्तरण' कहते हैं । यजमान आचमन करते समय परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! आप 'उपस्तरण' आप हमारे नीचे आधार रूप में विद्यमान हो और 'अपिधानम्' हमारे ऊपर भी, जब बिस्तर पर रात को सो जाते हैं तब नीचे चद्दर होती है और ऊपर एक चद्दर होती है परमात्मा को कहा जाता है नीचे वाली चद्दर भी आप हो और ऊपर ओढ़ने वाली चद्दर भी आप हो 'अपिधानम्' ढका हुआ । हे परमात्मन् ! आप ही हमको ढककर रखे हो । यह अपिधान का अर्थ होता है ढक देना, छुपा देना । मन्त्र कहता है — 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' । सत्य का जो मुख है वह ढका हुआ है, चमकीले पात्र के द्वारा, आकर्षणीय, लोभनीय पात्र के द्वारा सत्य का जो मुख है वह ढका हुआ है अर्थात् जैसे किसी बर्तन में ढक्कन लगा हुआ है तो अंदर क्या है हम देख नहीं पाते हैं, जान नहीं पाते हैं, समझ नहीं पाते हैं । ऐसे ही यह जो चमकीला आवरण है, चमकीले आवरण ने ऐसे सत्य को आच्छादित (छुपा) करके रखा है कि सत्य को हम देख नहीं पा रहे हैं, सत्य को हम जान, समझ नहीं पा रहे हैं ।

सब जगह आप इसको देख सकते हैं । क्योंकि शरीर हमारा निकटतम साधन है । शरीर से प्रारम्भ करता हूँ । शरीर को जब हम देखते हैं शरीर का कौनसा भाग दिखता है, शरीर में बहुत सारे अवयव हैं रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य ये एक विभाग है दूसरा विभाग करते हैं सबसे ऊपर कौन सा भाग है ? 'त्वचा' । त्वचा के नीचे 'माँस' माँस के नीचे नस-नाड़ियाँ हैं, हड्डियाँ हैं और हड्डी के अंदर मज्जा है फिर वीर्य आदि हैं तो ये दूसरा विभाग है । जब हम किसी को देखते हैं तो कौन सा भाग दिखता है केवल त्वचा मात्र दिखती है और त्वचा यदि किसी के शरीर से पूरी हटा दी जाए कितनी होगी ? लगभग सौ दो सौ ग्राम

होगी मुश्किल से, त्वचा बहुत पतली होने के कारण से यदि व्यक्ति के शरीर से निकाल ली जाएँ तो वह त्वचा परिमाण में कितनी होगी ? थोड़ी सी ही होगी । अब उसके बाद जो बच जायेगा शरीर में वह कैसा दिखेगा आपको ? बहुत गंदा । यह शरीर का सत्य स्वरूप है जो एक चमकीले आवरण के द्वारा ढका हुआ है । यह शरीर यदि बिल्कुल हमको दिख जाए तो कैसा लगेगा ? व्यवहार कर सकते हैं ? कोई व्यवहार नहीं कर सकते हैं । लोग प्रश्न उठाते हैं परमात्मा ने ऐसा चमकीला बनाया क्यों ? किसी के शरीर को देखने से हमको आकर्षण होता है ? उत्तर : यदि ऐसा शरीर नहीं बनाता तो हमारा व्यवहार सिद्ध नहीं होता, भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए ऐसा बनाना आवश्यक है । जो व्यक्ति शरीर को सुंदर बनाने के लिए जितना पुरुषार्थ करता है, उसी के आधार पर ईश्वर सुंदर शरीर का निर्माण करता है । शरीर सुंदर न हो, आकर्षक न हो तो प्रजा उत्पन्न नहीं हो सकती हैं, सन्तान उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है शरीर का सुन्दर होना, आकर्षक होना । जो शरीर को देखकर मोहग्रस्त, आसक्त होते हैं, वह उनका दोष है, बनाने वाले का नहीं है । जैसे अनेक योगी पुरुष आजन्म ब्रह्मचारी होते हैं वे लोग शरीर के प्रति आकर्षित नहीं होते हैं । न्याय दर्शन में बताया — ‘दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः’ । [४-२-२] अर्थात् व्यक्ति अपने मिथ्या संकल्प करते हुए रूपादि विषयों को बहुत सुखदायी कल्पना कर लेता है । वस्तु का यथार्थ स्वरूप होते हुए भी अपनी कल्पना से मनुष्य बहुत अधिक राग या द्वेष का संस्कार बना लेता है जो वास्तविकता से विपरीत अविद्या पूर्ण होता है । महर्षि व्यास जी कहते हैं — ‘पण्डिता ह्यशुचिं विदुः’ (योगदर्शने २-५ व्यासभाष्यम्) अर्थात् पण्डित ज्ञानी पुरुष शरीर को अशुचि = अपवित्र मानते हैं । अर्थापत्ति क्या निकलती है जो पवित्र मानते हैं वे लोग अज्ञानी होते हैं । शरीर के अन्दर मल, मूत्र, मांस, हड्डी आदि हैं; यह कौन नहीं जानता है ? सभी जानते हैं । अन्दर क्या है जानते हुए बाहर के चर्म त्वचा मात्र को देख कर आकर्षित होना कितना बड़ा मोह है । यह तो

ईश्वर का धन्यवाद है ऐसे द्रव्य अन्दर होते हुए भी ऐसा ढक्कन लगाया है जिससे हम व्यवहार कर सकें, जीवन जी सकें। यह जो शरीर हमें दिख रहा है इसके अन्दर आत्मतत्त्व विद्यमान है, जो नहीं दिख रहा है।

आत्मतत्त्व का हम व्यवहार नहीं करते हैं, शरीर के स्तर पर ही व्यवहार करते हैं। शरीर के द्वारा आत्मा ढका हुआ है। मान लीजिए जड़ शरीर के द्वारा चेतन आत्मा आच्छादित है। आत्मा अन्दर है तभी तो शरीर क्रियाशील है। आत्मा है तभी हमारा व्यवहार चलता है। यह जो आत्मा ज्ञानवान है, चैतन्य है; वह शरीर के द्वारा ढका हुआ है। जो शरीर के स्तर पर ही व्यवहार करता रहेगा वह आत्मतत्त्व तक नहीं पहुँच पाएगा। यही बात मन्त्र कह रहा है। 'हिरण्मयेन पात्रेण' सुन्दर चमकीले शरीर के द्वारा आत्मा ढका हुआ है। पीछे भी आपके सामने यह बात रखी थी — हमारा जो यह स्थूल शरीर है, यह अन्नमय कोष, उसके अन्दर प्राणमय कोष, उसके अन्दर मनोमय कोष, उसके अन्दर विज्ञानमय कोष, उसके अन्दर आनन्दमय कोष, उसके अन्दर आत्मा है। आत्मा के ऊपर ये पाँच कोष = पाँच आवरण हैं। ये पाँच कोष आत्मा को ढककर रखते हैं, किसको ? आत्मा को। आत्मा जो सत्यस्वरूप है उसको यह शरीर आवृत करके अपिहित = छुपाकर के रखता है। शरीर के अन्दर आत्मा का निवास स्थान है। जो शरीर को ही मैं मानता है, वह अभी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता है।

आगे थोड़ा विचार कीजिए ! संसार में कितने प्रकार के सुख हैं ? बहुत प्रकार के सुख हैं, अलग-अलग प्रकार, तरह तरह के सुख उपलब्ध हैं। शब्द से भी, स्पर्श से भी, रूप से, रस से, गन्ध से भी और विभिन्न प्रकार सुख हमें मिलते हैं। ये सारे सांसारिक सुख ईश्वरीय सुख को ढककर रखते हैं। परमेश्वर परमपिता परमात्मा जिसको हम ब्रह्म कहते हैं, उस ब्रह्मानन्द परम सुख को ये सांसारिक आकर्षण लौकिक सुख माया ढक कर रखती है। जब हम बाज़ार जाते हैं, मिठाई खरीद कर लाते

हैं, आजकल बाज़ार में पैकिंग के ऊपर अधिक ज़ोर देते हैं। मिठाई को बहुत बढ़िया डिब्बे में पैक कर के देते हैं। जबकि उस पैकिंग (डिब्बा) को घर लाने के बाद कूड़े पात्र में ही डालना होता है, उसका और कोई उपयोग नहीं है। आवरण द्रव्य (Packing Material) का कोई खास उपयोग हम नहीं करते हैं। अन्दर का द्रव्य हमारे लिए उपयोगी है, वही हमें चाहिए। परन्तु लोग आवरण खूब सजा-धजा कर करते हैं। आवरण Packing Material सुन्दर न हो तो ग्राहक आकर्षित नहीं होते हैं, खरीदना नहीं चाहते हैं। अनुपयोगी आवरण द्रव्य से उपयोगी आवश्यक वस्तु छुपा हुआ रहता है। वैसे ही सांसारिक सुख चमक-दमक आकर्षणीय आवरण Packing Material के अन्दर परमात्मा का नित्य सुख ढका हुआ है, छुपा है। संसार की चमक दमक यह हिरण्मयपात्र है। इसके द्वारा परमात्मा का सत्य स्वरूप छुपा हुआ है।

सांसारिक सुख के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाए तो ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। गुरुजन तो बताते हैं एक भी पदार्थ के प्रति संसार में आकर्षण है तो ईश्वर साक्षात्कार नहीं होगा। यदि अविद्यापूर्वक रागद्वेषयुक्त आकर्षण है तो ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होगा। जब पूरा संसार बेकार लगेगा तब ईश्वर का प्रत्यक्ष होगा। जीवात्मा बीच में है, एक तरफ ईश्वर है दूसरी तरफ प्राकृतिक पदार्थ माया है = अविद्या है। जब हम प्राकृतिक पदार्थ की ओर मुँह करेंगे तो ईश्वर की ओर पीठ हो जाएगी। जब प्राकृतिक पदार्थों की ओर पीठ करेंगे तो ईश्वर की ओर मुख होगा। सांसारिक पदार्थों के प्रति जब आकर्षित होंगे तब ईश्वर के प्रति रुचि नहीं होगी यह तात्पर्य है। वास्तव में ईश्वर सर्वव्यापक है उसकी ओर पीठ या मुँह एक तरफ करना सम्भव नहीं है। जितना—जितना प्राकृतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण रुचि, प्रीति कम होती जाती है, उतना—उतना ईश्वर के प्रति प्रेम/श्रद्धा बढ़ती जाती है। सांसारिक पदार्थों में १००% प्रीति है तो ईश्वर के प्रति प्रीति ०% रहेगी। सांसारिक पदार्थ में ९०% प्रीति है तो ईश्वर में १०% प्रीति

होगी। अब जो योगी है सांसारिक, प्राकृतिक पदार्थों के प्रति १००% विरक्त होता है, उसे 'पर' वैराग्य कहते हैं। गुणमात्र से वितृष्णा वैराग्य हो जाता है तो ईश्वर में १००% प्रीति हो जाती है। ईश्वरीय सुख तक हमें पहुँचने नहीं देता है कौन? सांसारिक सुख का आकर्षण। सत्य सुख, नित्य आनन्द गुप्त रूप में विद्यमान है, प्राकृतिक सुख आकर्षण से परे है।

हम विचार करें कि संसार में भी सुख है और ईश्वर में भी सुख है। सुख तो दोनों में उपलब्ध है। संसार का सुख बड़ा सहज लभ्य है, आसानी से मिला जाता है। बाजार में जाएँगे वस्तु खरीद कर ले आएँगे, भोग करेंगे, सुख मिल जाएगा। ईश्वरीय सुख तो ऐसे मिलता नहीं है, इतना सहज नहीं है, बहुत परिश्रम करना पड़ता है। तो ईश्वरीय सुख की क्या आवश्यकता है? सांसारिक सुख बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाते हैं और ईश्वर के सुख के लिए बहुत मेहनत, परिश्रम करना पड़ता है; कहते हैं — ब्रह्मचर्य का पालन करो, तप करो, गुरुकुल में जाओ, शास्त्रों को पढ़ो, ध्यान, योगाभ्यास करो इतना अधिक परिश्रम करने से ईश्वर का सुख मिलता है तो हम संसार के सुख में क्यों परिश्रम न करें, ईश्वर की प्राप्ति के लिए क्यों पुरुषार्थ करें? आज हम ईश्वरीय सुख की विशेषता के बारे में चर्चा करेंगे। ईश्वरीय सुख कैसे सत्य स्वरूप है और संसार का सुख कैसे आकर्षित करने वाला है? ईश्वर के सुख को ढकने वाला कैसे है? इसके ऊपर थोड़ा विचार करेंगे।

(१) सबसे पहली बात है कि ईश्वर का सुख नित्य सुख है और सांसारिक सुख क्षणिक सुख है। सांसारिक सुख—जितने क्षण तक आप भोग करते हैं उतने क्षण तक सुख देता है बाद में समाप्त हो जाता है और ईश्वर का सुख नित्य है। सांसारिक सुख के साधन समाप्त हो जाते हैं जैसे आपके पास खाने-पीने के लिए, पहनने के लिए जितने भी साधन हैं वे सब भोगने पर समाप्त हो जाते हैं। ईश्वरीय सुख कभी भी समाप्त

नहीं होता है, नित्य सुख है और हमेशा रहता है । सांसारिक सुख में और ईश्वरीय सुख में यह पहला अंतर है ।

(२) दूसरा है सांसारिक सुख को प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक धन, सम्पत्ति, साधनों की आवश्यकता है और ईश्वरीय सुख को प्राप्त करने के लिए धन, सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है, शरीर को चलाने के लिए तो आवश्यक है लेकिन ईश्वरीय सुख को प्राप्त करने के लिए कुछ धन चाहिए, कि इतना धन हो तो ही ईश्वरीय सुख प्राप्त होगा, ऐसे घर में बैठकर ध्यान करेंगे तो प्राप्त होगा, नहीं तो प्राप्त नहीं होगा, ऐसा नहीं है । ईश्वरीय सुख को प्राप्त करने के लिए किसी भी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है । आंतरिक साधन तो चाहिए उपासना की विधि चाहिए, पुरुषार्थ चाहिए, आंतरिक साधन चाहिए । बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं हैं धन, सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं हैं ।

(३) सांसारिक सुखों को जितना भोगते हैं हमारी तृष्णा बढ़ती जाती है व्यास भाष्य में बताया ‘न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्’ । भोग का अभ्यास करते-करते हमारी तृष्णा समाप्त हो जाएगी यह शक्य = सम्भव नहीं हैं । प्रश्न उठाया ‘कस्मात्’ ? भोगने की इच्छा हो रही है, भोगने के बाद क्यों समाप्त नहीं होगी इच्छा ? उत्तर दिया ‘भोगम्—अनुविवर्धन्ते रागाः’ ऋषि कहते हैं सुख भोगने के बाद तृष्णा = भोगने की इच्छा और बढ़ती है, बढ़ती जाती है । ईश्वरीय सुख को भोगने से तृष्णा समाप्त हो जाती है । सांसारिक सुखों को भोगकर कोई यह नहीं कह सकता है “मुझे जो पाना था वह मैंने पा लिया है” । ईश्वरीय सुख भोगने के बाद व्यक्ति कहता है ‘प्राप्तं प्रापणीयम्’ वह तृप्ति का अनुभव करता है । संसार में कितना भी धन, कितनी भी बुद्धि, कितना भी बल/समर्थन कुछ भी प्राप्त हो जाए व्यक्ति यह नहीं कह सकता है “जो मुझे पाना था वह मैंने पा लिया, पाने योग्य मेरे लिए शेष

कुछ नहीं रहा है ।” यह उक्ति तो ईश्वरीय सुख पाने वाला पूर्ण तृप्त/कृतकृत्य योगी ही अनुभव करता है । सांसारिक सुख भोगेंगे तो एक भोगेंगे दूसरे की इच्छा होगी, दूसरे के बाद तीसरे, चौथे की भोगने की इच्छा होगी । इच्छाएँ बढ़ती जाएँगी । आज समाज में देखेंगे, T.V. आदि में प्रत्येक दिन एक-एक नया-नया व्यञ्जन पकवान बनाना दिखाते हैं, सिखाते हैं । रोज आप एक-एक पकवान खाते जाएँगे तो भी व्यञ्जन समाप्त नहीं होंगे । व्यञ्जनों से तृप्ति होगी ही नहीं । ईश्वरीय सुख में पूर्ण तृप्ति की अनुभूति होती है ।

(४) सांसारिक सुख को ही लक्ष्य बनाने वाला अन्याय छल, कपट, बेईमानी भी करता है । वह देखता है न्यायपूर्वक ईमानदारी से जितना प्राप्त होता है उस से तृप्ति नहीं हो रही है, तो सोचता है कुछ अधिक हो जाए तो तृप्ति हो जाएगी । अन्याय से और अधिक कमा लूँ तो तृप्त हो जाऊँगा । अवसर मिलने पर ऐसा व्यक्ति अन्याय छल कपट आदि सब कर सकता है और ईश्वरीय सुख को प्राप्त करनेवाला या प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति कभी अन्याय छल-कपट धोखा-धड़ी बेईमानी नहीं करेगा । क्योंकि सांसारिक सुख सीमित है, भोगने से समाप्त हो जाता है । एक भोग करेगा तो दूसरा उसको भोग नहीं सकता है । ईश्वरीय सुख असीम है अनन्त है, कभी समाप्त नहीं होता है । एक साथ सारे मनुष्य भोगे तो भी दूसरे के हिस्से में कम नहीं पड़ेगा । इसके विपरीत सांसारिक सुख सीमित है, मैं खाऊँ तो आपको नहीं मिलेगा, आप खाएँ तो मुझे नहीं मिलेगा । इसलिए यहाँ मारामारी होती है, अन्याय करते हैं, छलकपट करते हैं, ईश्वरीय सुख में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, छल-कपट आदि की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(५) सांसारिक सुख को भोगने से इन्द्रियाँ जराजीर्ण हो जाती हैं और ईश्वरीय सुख भोगने से व्यक्ति का शरीर, इन्द्रियाँ बलवान, स्वस्थ होती

हैं, जब सांसारिक सुख को भोगेंगे तो व्यक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है, रुग्ण होता है और ईश्वरीय सुख को भोगेंगे तो व्यक्ति अधिक से अधिक स्वस्थ, बलवान होता है। यह ईश्वरीय सुख का लाभ है।

(६) सांसारिक सुख को भोगने से आयु क्षीण होती है जितना अधिक सांसारिक सुखों को व्यक्ति भोगता है उसकी आयु धीरे-धीरे क्षीण होती है और ईश्वरीय सुख को भोगने से आयु बढ़ती है। महर्षि मनु जी ने लिखा है उनसे किसी ने पूछा कि ऋषि लोगों की आयु इतनी अधिक क्यों होती है? तो कहा — “**ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः**” लम्बे काल तक वे संध्या करते हैं, ईश्वर की उपासना करते हैं, लम्बी उपासना करने से आयु दीर्घ होती है, यह वहाँ पर बताया। केवल आयु नहीं ‘**प्रज्ञा यशश्च कीर्ति च ब्रह्मवर्चसमेव च**’ ॥ मनु० ४-९४ ऋषियों ने देर तक सन्ध्योपासना करने के कारण लम्बी आयु के साथ उत्कृष्ट बुद्धि, प्रशंसा, प्रसिद्धि, ब्रह्मतेज = आध्यात्मिक ऊर्जा को प्राप्त किया।

(७) सांसारिक सुखों को भोगने से व्यक्ति मन व इन्द्रियों का दास बनता है। मन व इन्द्रियों का गुलाम बनता है, मन व इन्द्रियाँ जैसे नचाती हैं व्यक्ति वैसे नाचता रहता है और ईश्वरीय सुख को भोगने से व्यक्ति मन, इन्द्रियों का स्वामी होता है। मन, इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करता है। इसलिए संन्यासियों को स्वामी कहते हैं। स्वामी के लिए कम से कम योग्यता बताई गई है कि मन, इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण हो तो वे स्वामी बन सकते हैं। ईश्वरीय सुख को भोगते हैं तो मन एवं इन्द्रियों के ऊपर हमारा नियंत्रण रहता है। व्यक्ति अपने विवेक पूर्वक मन व इन्द्रियों का प्रयोग करता है। सांसारिक सुख भोगेगा तो जैसे मन में आकर्षण होता है वैसे ही प्रयोग करता है।

(८) सांसारिक सुखों को जो व्यक्ति भोगता है वह स्वार्थी होता है और जो ईश्वरीय सुख को भोगता है वह निःस्वार्थी होता है, सांसारिक

सुखों को भोगने वाला व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को कष्ट दे सकता है। ईश्वरीय सुख को भोगने वाला व्यक्ति स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को सुख देगा। अपने को थोड़ा कष्ट, बाधा हो, पीड़ा हो फिर भी वह दूसरों को सुख देने के लिए प्रयत्न करता है। वह निष्काम कर्म करता है। सांसारिक सुख भोगने वाला व्यक्ति सकाम कर्म करता है, स्वार्थी होता है। ईश्वरीय सुख भोगने वाला व्यक्ति निःस्वार्थी होता है। दूसरों का उपकार करता है, उसके बदले में कोई अपेक्षा/इच्छा नहीं करता है। सांसारिक सुखाभिलाषी देखेगा इसमें मेरा कोई लाभ है, तो करेगा; लाभ नहीं है तो नहीं करेगा।

(९) ईश्वरीय सुख को भोगने वाला व्यक्ति सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी होता है। सत्य ही विचार करता है, सत्य ही बोलता है और सत्याचरण ही करता है। जो सांसारिक सुख भोगता है, उसी सुख को लक्ष्य बनाता है; वह सत्य भी मानता है, असत्य भी मानता है, सत्य भी बोलता है, असत्य भी बोलता है, सत्याचरण भी करता है असत्याचरण भी करता है। यह दोनों में अन्तर है।

(१०) जो व्यक्ति ईश्वरीय सुख को भोगता है, वह सब से प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है, संगठित होकर रहता है। संगठन की भावना रखता है, सबसे मिल-जुल कर कार्य करता है। जो सांसारिक सुख भोगते हैं, असंगठित की भावना से व्यक्ति केन्द्रित रहना चाहता है। आज भारत में भी परिवारों में विगठन बहुत अधिक हो रहा है। माता-पिता कहीं रहते हैं, सन्तान अन्यत्र, सब अलग-अलग, यहाँ तक कि पति किसी नगर में कार्य करता है, पत्नी किसी अन्य नगर में कार्य करती है; विगठन है। ईश्वर की उपासना करने से प्रेमभाव बढ़ता है, संगठित रहते हैं, एक साथ रहते हैं, परस्पर सहयोग करते हैं।

ईश्वरीय सुख में ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं। वह शुद्ध, वास्तविक सुख है, सत्य स्वरूप है। सांसारिक सुख का भी अस्तित्व तो है किन्तु क्षणिक है दुःख मिश्रित है। सत्य स्वरूप ईश्वरीय सुख को संसार के सुख ने ढककर रखा है। ‘हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखम्।’ सांसारिक/लौकिक आकर्षणीय सुख के द्वारा ईश्वर का जो नित्य, वास्तविक, सनातन सुख है वह ढका हुआ है। तीन बातें आपको बताईं। एक तो शरीर के बारे में बताया, चर्म से अन्दर के धातु छुपे हुए हैं। फिर शरीर के द्वारा आत्मा छुपा हुआ है, ढका हुआ है। तीसरा परमात्मा का नित्य सुख सांसारिक सुख से छुपा है।

चौथी बात है सांसारिक सुख के द्वारा संसार में विद्यमान दुःख छुपा हुआ है। संसार में जब पदार्थों का भोग करते हैं, हमें केवल सुख ही सुख दिखाई देता है। उसके अन्दर जो दुःख है, वह दुःख दिखाई नहीं देता है। दुःख किसको दिखाई देता है? विवेकी को दुःख दिखाई देता है। हमें सुख ही दिखाई देता है। दुःख उसके अन्दर है या नहीं? चमकीला सुख, अन्दर विद्यमान दुःख को ढक देता है। बाज़ार से हम चावल खरीद कर लाते हैं उसमें कंकर मिला हुआ है। कंकर दिखाई नहीं देता है, चावल-चावल दिखता है। बढ़िया चावल देखा, खरीद कर ले आए, बढ़िया चावल के अन्दर कंकर छुपा हुआ है। व्यापारी लोग प्रायः ऐसा करते हैं। चाहे सब्जी हो, फल हो, अनाज हो ऊपर-ऊपर अच्छी चीज रख देते हैं। जब ग्राहक को तोलकर देते हैं अन्दर से मिलावट/निकृष्ट वस्तु तोलते हैं। जो अच्छे व्यापारी, ईमानदार होते हैं वे इस प्रकार नहीं करते हैं। ऊपर चमकीले सुन्दर वस्तु के नीचे छुपे हुए निकृष्ट निम्न स्तर के पदार्थ को ग्राहक देख नहीं पाता है। सांसारिक सुख के पीछे दुःख छिपा हुआ है। भर्तृहरि जी ने इस बात को बताया, प्राणी पाँच सुखों में, पाँच आकर्षण में फँस जाते हैं। वहाँ दुःख मृत्यु को देख नहीं पाते, नहीं जान पाते हैं। श्लोक है—

कुरङ्ग—मातङ्ग—पतङ्ग—भृङ्ग—मीना हता पञ्चभिरेव पञ्च ।

एकः प्रमादी स कथं न हन्यात् यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

एक एक इन्द्रिय विषय के प्रति आकर्षित होकर जीव अपना प्राणनाश स्वयं कर लेता है; और जो पाँचों विषयों के प्रति आकर्षित मनुष्य है, उसकी क्या दशा होगी ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में ऐसा चमकीला सुख है जिसने अपने अन्दर विद्यमान दुःख यहाँ तक कि मृत्यु को छिपा कर रखा है। तत्काल सुख/क्षणिक सुख (Flicker of Joy) एक चमक मात्र आनन्द की, आनन्द की एक चिंगारी मात्र है, उसके लिए अनन्त दुःख में जाकर डूब जाते हैं। परिणाम को, दुःख को नहीं देखते हैं, ऊपर-ऊपर दिखने वाले सुख से आकर्षित होकर फँस जाते हैं। **हिरण्मयेन पात्रेण** संसार के चमक दमक सुख के द्वारा **सत्य** छिपा हुआ है, दुःख का स्वरूप ढका हुआ है, बाहर से पता नहीं चलता है। पूरा सांख्यदर्शन भरा हुआ है, जगह जगह बताया प्रकृति में दुःख है, कुलवधू, नर्तकी आदि अनेक उदाहरणों से समझाया कि प्रकृति में दुःख है तृप्त करने का सामर्थ्य नहीं है। सभी दर्शनकार यही कहते हैं। मन्त्र कहता है प्रकृति में दुःख छुपा हुआ है उसको जानो। कैसे जानें ? प्राकृतिक वस्तु के अन्दर छिपा हुआ दुःख हर व्यक्ति जान नहीं सकता है। अनेक बार दुकान में कोई उत्पाद/पदार्थ पैकिंग कर के रखा हुआ है। हम अन्दर देख नहीं सकते हैं। दुकानदार कहता है खोलेंगे तो खरीदना पड़ेगा। वैसे संसार में प्राकृतिक पदार्थों के अन्दर छिपा हुआ दुःख हर व्यक्ति देख नहीं पाता है। कौन देख सकता है ? विवेकी व्यक्ति सुख के अन्दर छुपे हुए दुःख का दर्शन कर पाता है।

आगे मन्त्र में देखते हैं — ‘तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये’। ‘तत्त्वं’ में दो शब्द हैं तत् और त्वम्। तत् का अर्थ होता है उसको। जो सत्य स्वरूप है, जो वास्तविकता है, जो अंदर छिपा हुआ है उसको। **त्वम्** का अर्थ तुम। मन्त्र कहता है जो भी इसका अध्येता है, पढ़ने वाला

है, पढ़ने वाले के प्रति मंत्रकार, उपनिषत्कार का निर्देश है 'तत्त्वं' तुम एक काम करो ! 'पूषन्' यह पूषन शब्द जो है 'त्वम्' का विशेषण है । तुम कैसे हो ? 'पूषन्' पुष्टि को चाहनेवाले अर्थात् पुरुषार्थी व्यक्ति । जो व्यक्ति पुरुषार्थी है उसके लिए इस मन्त्र का उपदेश है, जो आलसी है, प्रमादी है उसके लिए यह मन्त्र नहीं है । मन्त्र कहता है — 'तत् त्वं पूषन्' हे पूषन् ! (संबोधन में है) 'त्वं' तुम जो पुष्टि को चाहते हो, अपने जीवन को उन्नत करना चाहते हो, सत्य को जानना, समझना चाहते हो 'त्वम् अपावृणु' 'अपावृणु' का अर्थ कहा हटा दो, दूर कर दो । जैसे आप रसोई में जाते हैं, भोजन ढक्कन के नीचे रखा है और हमारी भोजन खाने की इच्छा है तो हम क्या करते हैं ? ढक्कन को हटाते हैं । यह मन्त्र कहता है कि ढक्कन को हटाओ, बाहर के आकर्षण चमक-दमक में मत फँसो ! उस आकर्षण को हटाओ Packing Material को पहले हटाओ । Packing Material हटाकर अंदर क्या है उसको देखो, अंदर की वस्तु को जानो । आप बाज़ार से मिठाई खरीदकर लाये पैकिंग बढ़िया, अच्छी है तो उसको ऐसे ही रखेंगे क्या ? हमारा प्रयोजन पैकिंग से नहीं है, हमारा प्रयोजन मिठाई से है तो उस पैकिंग को खोलो हटाओ ।

मन्त्र कहता है 'तत् त्वं पूषन् अपावृणु' हे पूषन् ! हे पुष्टि को चाहनेवाला तुम उसको हटा दो । किसको ? वह जो ढक्कन है उसको हटा दो । किस प्रयोजन के लिए हटाएँ ? कहते हैं 'सत्यधर्माय दृष्टये' सत्य धर्म के लिए, सत्य धर्म की दृष्टि को प्राप्त करने के लिए, सत्य को जानने के लिए उस ढक्कन को हटाना पड़ेगा । जब तक ढक्कन को नहीं हटाएंगे तब तक अंदर क्या है यह हमको पता नहीं चलेगा, अंदर के तत्त्व को जानना है तो बाहर के तत्त्व को हटाना पड़ेगा । पहला उदाहरण क्या दिया था ? शरीर का दिया था । शरीर किसके द्वारा ढका हुआ है त्वचा के द्वारा तो अपनी बुद्धि से त्वचा को हटाकर शरीर को देखने से आकर्षण समाप्त हो जाता है । न्यायदर्शन में भी यही बात बताई है उन्होंने

कहा — ‘तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः’ (४-२-३) जो ये आकर्षण का कारण है वह अवयवी दृष्टि मानते हैं । यदि हम चमड़ी को अलग देखें और शरीर में जो माँस, हड्डियाँ हैं उनको अलग-अलग देखें तो किसको आकर्षण होगा ? आपके सामने खून में लथपथ माँस का लोथड़ा रख दें तो किसको आकर्षण होगा ? किसी को भी नहीं होगा । हड्डियाँ रख दें तो किसी को आकर्षण होगा ? हड्डियाँ देखते ही हम बोलते हैं इसको हटाओ और जगह को भी साफ करते हैं । वास्तविक तत्व को देखने के लिए बाहर से आवरण हटाना पड़ेगा ।

दूसरा उदाहरण क्या दिया था ? शरीर के द्वारा आत्मा ढका हुआ है, आत्मा को जानना है । शरीर से अपने आप को पृथक् महसूस करना होता है । जब से हमारा जन्म हुआ है तब से हम शरीर के साथ जुड़े हुए हैं, शरीर से अलग कभी हमने अनुभव ही नहीं किया, जब भी हमने अपना अनुभव किया शरीर के साथ ही किया तो शरीर से पृथक् आत्मा को जानना है । आत्मा अमर है शरीर तो नाशवान् है, शरीर से अलग आत्मा को जानना है, शरीर तो आवरण है यह मैं नहीं हूँ । इसको अनुभव करने में कितने वर्ष लग जायेंगे ? मैं शरीर नहीं हूँ मोटे रूप में देखें तो मैं स्त्री भी नहीं हूँ व पुरुष भी नहीं हूँ ये शरीर के धर्म हैं । मैं पुरुष व स्त्री धर्म से अलग हूँ । मैं आत्मा हूँ पुरुषधर्मी इस शरीर के कारण हूँ, स्त्रीधर्मी इस शरीर के कारण हूँ । यह आत्मा शरीर के द्वारा ढका हुआ है तो शरीर को हटायेंगे । कैसे हटायेंगे ? बुद्धि से, विवेक से, विचार से । विचार से जब हम शरीर को हटाते हैं, शरीर के स्वरूप को अलग जानते हैं और अपने आत्मस्वरूप को अलग जानते हैं, यहाँ से अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है । जब तक हम अपने आपको शरीर मानते हैं अध्यात्म में गति नहीं होगी । शरीर से अलग मानते ही अध्यात्म में गति होती है, प्रगति होती है ।

तीसरा उदाहरण क्या दिया था ? ईश्वर । ईश्वरीय सुख सांसारिक सुख के द्वारा ढका हुआ है । सांसारिक सुख को भोगने का निषेध नहीं

है, भोग तो कर सकते हैं लेकिन उस भोग को भोगते हुए हमको देखना है कि इस भोग से मुझे तृप्ति हो रही है या नहीं। जो व्यक्ति ऐसे परीक्षणपूर्वक सांसारिक भोगों को भोगता है, प्रयोग, उपयोग करता है उसको, एक दिन तत्त्वज्ञान होगा। जो व्यक्ति इन सांसारिक सुखों का परीक्षण नहीं करता है, उसी में ही रमण करता है, उसी में ही डूब जाता है, उसी में ही अपने आपको तृप्त अनुभव करता है, उसी की प्राप्ति के लिए ही पूरा प्रयत्न करता है, वह इस स्थिति में ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता है। सांसारिक सुख भोगना है लेकिन भोगते समय परीक्षण करना है कि इसमें कितना सुख है ? कितना दुःख है ? तब व्यक्ति को ईश्वर का बोध होगा।

चौथा उदाहरण क्या दिया था ? प्राकृतिक दुःख, प्राकृतिक सुख से छिपा हुआ है। प्राकृतिक पदार्थों में दुःख है लेकिन वह दुःख सुख के द्वारा छिपा हुआ है। कोई भी पदार्थ हमको आकर्षित करता है, सुखदायी लगता है तो उसका हम परीक्षण करें कि इसमें कितना सुख है ? क्या पूरा ही सुख है या इसके अंदर दुःख भी है ? जब हम दोनों को देखना चाहेंगे तब पता चलेगा कि सुख तो है लेकिन सुख के साथ-साथ दुःख भी मिश्रित है यह तब बोध होता है। अब इसको इस रूप में समझिए। सांसारिक सुख भोगते समय उसके अंदर जो दुःख छिपा हुआ है वह हमको दिखता नहीं है। आपके सामने एक लौकिक उदाहरण देता हूँ कल्पना कीजिए कि खीर रखी हुई है खाने के लिए उसमें काजू, बादाम, दूध, चावल भी हैं। खीर का स्वाद कैसा होता है ? मीठा, मधुर रस होता है। आपको सारा ही मीठा दिखता है या नहीं दिखता ? लेकिन चावल, दूध अलग है और मीठा अलग है तो सारा मीठा कैसे लगता है, पूरा मीठा ही मीठा दिखता है उसमें यह नहीं दिखता कि इसमें अन्य चीजें भी हैं और जब हम को मीठा दिखता है, हाथ में लेकर भी देख सकते हैं अब यह आया कहाँ से ? कैसे विवेक करते हैं ? उसके पीछे भी जाओ और आगे भी जाओ तो चार पाँच चीजों को आपने मिलाया दूध, चावल, चीनी, काजू, बादाम आदि इन सब पदार्थों को देखेंगे तो इनका कारण

क्या है ? कारण का मतलब वे कहाँ से उत्पन्न हुए ? चावल कहाँ से उत्पन्न हुआ ? खेत से, धान हम खेत से निकालते हैं, खेत के अंदर मिट्टी है तो मिट्टी से परिवर्तन होते-होते कहाँ तक पहुँचा ? खीर तक । मिट्टी से चावल हो गया फिर आगे बढ़ते-बढ़ते कहाँ पहुँचेंगे ? खीर तक अब खीर को बौद्धिक स्तर पर देखो ! जब खीर बनकर तैयार है तब तो गर्म होती है एक घण्टे के बाद ठण्डी हो गई और उसके बाद दो, चार, आठ, दस, बीस घण्टे, चालीस घण्टे और आगे बढ़ते जाओ तो क्या स्थिति आती है ? जो यह खीर में परिवर्तन हुआ, उस में जो विकार उत्पन्न होते हैं वे विकार खीर के अंदर भी थे या नहीं थे लेकिन हमको खीर पूर्ण सुखदायी लग रही थी । खीर देखते हुए कभी लगता है कि इसमें दुःख भी है, विकार भी है उसके अंदर गलन-सड़न की स्थिति आगे बन सकती है ? खीर के अंदर ये स्थितियाँ दिखती है क्या ? नहीं दिखाई देती । अब उसके अंदर जो आकर्षण है सुख है वह पूरा का पूरा सुखदायी हमको लगता है यही हम और योगियों में अंतर है । योगी उसी समय (सुख के समय) उसके अंदर का सारा दुःख अनुभव करता है । दुःख भी दर्शन करता है और सुख भी । सुख तो उसको क्षणिक लगता है लेकिन हमें कैसा लगता है ? हमें पूरा ही सुखदायी लगता है । हमें लगता है — जब खाऊँगा, खाते समय भी सुख है और खाने के बाद भी मैं सुख प्राप्त करूँगा, खाकर तृप्त हो जाऊँगा ऐसे ही अनुभव होता है । जितना समय जीभ पर रखूँगा तब तक ही सुख है, जैसे ही निगल जाऊँगा तब सुख समाप्त हो जाएगा ऐसा लगता है क्या किसी को ? सोचेंगे, विचारेंगे तो लगेगा लेकिन जब खाने के लिए बैठे हैं सामने विद्यमान है तब ऐसा लगता है कि इसको प्रयोग करके मैं तृप्त हो जाऊँगा । तृप्ति उसके अंदर है या नहीं उसको देखना है । कैसे देखना है ? मंत्र कहता है ‘तत्त्वं पूषन्नपावृणु’ हे पूषन्, पुष्टि को चाहनेवाला, पुरुषार्थी मनुष्य, योगाभ्यासी, उपासक ‘त्वम्’ तुम ‘तत् अपावृणु’ उसको हटा दो । वह जो आवरण

है चार उदाहरण मैंने दिये हैं और भी आप बना सकते हैं, इन चार उदाहरणों में जो-जो हमने आवरण बनाया उस आवरण को हटा दो, आवरण को पृथक् कर दो, छोड़ दो। किसलिए छोड़ दें ? कहते हैं ‘सत्यधर्माय दृष्टये’ सत्य धर्म के लिए, सत्य स्वरूप को जानने के लिए, धर्म की प्राप्ति के लिए ऐसी दृष्टि, बुद्धि, ऐसे विवेक को प्राप्त करने के लिए यह कार्य करना है। मन्त्र में बहुत सरल शब्द हैं, इसमें कोई शब्द कठिन नहीं है, एक ‘पूषन्’ शब्द है पुष्टि को चाहनेवाला और एक शब्द है ‘अपावृणु’ का अर्थ हटाना जैसे पुस्तक का विमोचन करते हैं तो क्या करते हैं ? पुस्तक का जब अनावरण करते हैं तब क्या करते हैं ? रिबन काटकर उसके आच्छादन को हटाते हैं, पुस्तक को फिर दिखाते हैं। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि ‘अपावृणु’ जो ढक्कन है, जिसने सत्य को छिपा कर रखा है उसको तुम हटा दो। जब हटा देंगे तब सत्यधर्म की प्राप्ति होगी। ओऽऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



ग्यारहवीं कक्षा

ईशोपनिषद् के पंद्रहवें मन्त्र के ऊपर विचार कर रहे थे। पंद्रहवाँ मंत्र था —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पीछे जो पढ़ा उसके ऊपर कुछ प्रश्न पूछते हैं — प्रश्न : हिरण्मय पात्र क्या है ? सोने का पात्र जैसे हमारा शरीर चमड़ी से ढका हुआ है और आत्मा शरीर से ढका हुआ है ।

स्वामी जी — और क्या रह गया सुरेन्द्र जी ?

ब्रह्मचारी जी — जो आकर्षण युक्त पदार्थ हैं संसार में, चमकीले पदार्थ हैं उनसे सत्य ढका हुआ है ।

स्वामी जी — सत्य क्या है ?

ब्रह्मचारी जी — ईश्वरीय आनन्द, आत्मिक आनन्द जो है वह सत्य है ।

स्वामी जी — और क्या बताया था रवि जी ?

ब्रह्मचारी जी — संसार में जो ईश्वर की सत्ता है वह भी इस चमक-दमक से ढकी हुई है ।

स्वामी जी — तीन बातें तो हो गई अब चौथी बात बताइए विशाल जी ?

ब्रह्मचारी जी — समस्त चमकीले पदार्थ जो मन का हरण कर लेते हैं उनसे परमात्मा ढका हुआ है ।

स्वामी जी — चौथी बात बाकी है ?

ब्रह्मचारी जी — संसार में जो सुख दिखाई देता है उस सुख के द्वारा दुःख ढका हुआ है । वस्तु को देखते ही हमको लगता है कि यह पूर्ण सुख स्वरूप है ।

स्वामी जी — मनोजित् जी बताइए ईश्वरीय सुख की क्या विशेषता है, संसार में भी सुख मिलता है, ईश्वर से भी सुख मिलता है तो ईश्वर के सुख में क्या विशेषता है ?

ब्रह्मचारी जी — संसार के सुख से तृप्ति नहीं होती ईश्वरीय सुख से तृप्ति हो जाती है। संसार के सुख में दुःख मिला हुआ है और ईश्वर का सुख पूर्ण शुद्ध है। ईश्वरीय सुख को भोगने के लिए किसी भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं है। संसार के सुख में चार प्रकार के दुःख मिश्रित हैं। किन्तु ईश्वरीय सुख में ये चार प्रकार के दुःख नहीं हैं। सांसारिक सुख अनित्य व क्षणिक हैं और ईश्वरीय सुख नित्य सुख है। सांसारिक सुखों को भोगकर इन्द्रियाँ कमजोर हो जाती हैं और सांसारिक सुख को भोगकर व्यक्ति स्वार्थी बन जाता है।

स्वामी जी — ईश्वरीय सुख को जानेंगे तो प्रीति बढ़ेगी। प्रीति बढ़ेगी तो आप प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेंगे। न्यायदर्शन में कहा है — प्रमाणों से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति होगी तो प्रमाण सार्थक होते हैं। पहला ही वार्तिक है न्याय दर्शन का। पहले प्रमाणों से हमको पदार्थों का ज्ञान होता है, ज्ञान होने से प्रीति अथवा अप्रीति होती है। अनुकूल हो तो प्रीति अन्यथा अप्रीति। प्रीति हुई तो प्राप्त करने की अन्यथा छोड़ने की ईच्छा होगी। जितना हम ईश्वर के बारे में जानेंगे उतनी प्रीति बढ़ेगी इसलिए तो उपनिषद् हैं। सारे उपनिषद् ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को बताते हैं।

आगे बढ़ते हैं — इस मन्त्र में थोड़ी और बात है — दूसरी पंक्ति में बताया 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'। 'पूषन' का क्या अर्थ था ? पुष्टि को चाहने वाला। जो व्यक्ति पुष्टि को चाहता है, वह पुरुषार्थ करता है। उसको यहाँ संबोधन में बताया गया। जो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, उसकी ही पुष्टि होती है, उसको ही सफलता मिलती है। संसार में किसी भी क्षेत्र में जो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, उसको फल मिलता है, उपलब्धि होती है। वेद का मन्त्र है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

यह 'दीक्षा' क्या है ? व्रत लेने से, संकल्प लेने से व्यक्ति के अंदर उत्साह फिर योग्यता आ जाती है और जैसे ही योग्यता आती है तो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है तब उसको उपलब्धि होती है । कोई व्यक्ति हमारे घर आकर यज्ञ करे तो हम उसको दक्षिणा देते हैं, पुरुषार्थ का फल । जब व्यक्ति योग्यता को प्राप्त करता है उसको फल भी मिलता है, चाहे आप विद्या के क्षेत्र में हो, चाहे समाज सेवा, परोपकार के क्षेत्र में हो, चाहे योग-साधना के क्षेत्र में हो; जिस भी क्षेत्र में आप पुरुषार्थ करेंगे तो आपको सफलता निश्चित मिलेगी । यह नियम है कि पुरुषार्थ जो करता है उसको सफलता अवश्य मिलेगी । हमारे पुरुषार्थ के अनुरूप हमें फल मिलता है, हम जितना पुरुषार्थ करेंगे उतना फल प्राप्त होगा । यह अलग बात है कि जितना हम चाहते हैं उतना न हो लेकिन पुरुषार्थ करने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से उन्नति को प्राप्त करता है, सफलता को प्राप्त करता है । आज संसार में अच्छे लोगों का बहुत अभाव है । कहीं भी आप जायेंगे हर समाज में कहते हैं हमको कोई विद्वान दीजिए जो यहाँ प्रचार कर सके, हमको उपदेश दे सके, हमको पढ़ा सके । इतना अभाव है संसार में । थोड़े ही शास्त्र व्यक्ति यहाँ पढ़ते हैं, तैयार हो जाते हैं फिर संसार में जाते हैं तो बहुत लोगों का मान-सम्मान भी मिलता है, धन-सम्पत्ति भी मिलती है, दोनों चीजें मिलती हैं । खाने को, पीने को और सम्मान सब सुविधाएँ प्राप्त होती हैं ।

योगदर्शन में सिद्धियों का वर्णन किया । सिद्धियों का वर्णन करने के बाद कहा कि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाने पर जब योगाभ्यासी कुछ ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसको निमंत्रण मिलते हैं । कहाँ से निमंत्रण मिलते हैं ? 'स्थानी' जिसका स्थान है । संसार में जिनका ऊँचा स्थान है ऐसे अच्छे व्यक्ति, प्रतिष्ठित व्यक्ति, सम्पन्न व्यक्ति उसको निमंत्रण देते हैं । जैसे ही आपकी थोड़ी योग्यता बनेगी, थोड़ा सा आपने योगाभ्यास

किया, थोड़ी सी सफलता प्राप्त हुई, ध्यान एकाग्र हो गया, मन को नियंत्रित कर लिया, यम-नियम का व्यवहार काल में अच्छा पालन करते हैं तभी आपको लोगों से बहुत कुछ मिलने लग जायेगा। ऐसे ही थोड़ा पढ़ते हैं व्याकरण पढ़ लिया, दर्शन पढ़ लिया इतना मात्र पढ़ने से व्यक्ति को बहुत निमंत्रण आते हैं, सब जगह बुलाते हैं कि हमारे यहाँ एक विद्वान को भेजो, पढ़ाने वाले को भेजो। थोड़ा ही व्यक्ति योग्य बन जाता है तो उसे निमंत्रण आते हैं। निमंत्रण आने से वहाँ दो सावधानियाँ बताई गयी। कौन-कौन से काम नहीं करने है? प्रदीप जी — संग नहीं करना है, विषयों का भोग नहीं करना है, अच्छे-अच्छे विषय आपको प्राप्त होंगे, कैसे-कैसे प्रलोभन दिए गए हैं वे सब प्रलोभन क्या हैं? **हिरण्मयेन पात्रेण**। आप संसार में जायेंगे तो बहुत अच्छे-अच्छे प्रलोभन आपको मिलेंगे तो इन प्रलोभन में फँसना नहीं है यह प्रलोभन क्या है? कहते हैं '**हिरण्मयेन पात्रेण**' यह हिरण्मयपात्र है, चमकीला ढक्कन है इसके अंदर जो व्यक्ति फँस जाता है वह सत्य धर्म को देख नहीं सकता है। संसार में जैसे ही उपलब्धि होती है थोड़ा सा भी कोई व्यक्ति समाज सेवा करता है, परोपकार, सामाजिक कार्य करने लग जाता है तो जगह-जगह से उसको निमंत्रण आयेंगे। निमंत्रण आने पर बहुत सारे विषय भी भोग करने को मिलेंगे तो शास्त्रकार कहते हैं — विषयों का भोग नहीं करना है और **दूसरा स्मय** = अभिमान भी नहीं करना है, देखो मेरे को इतने बड़े-बड़े आदमी बुला रहे हैं, इतने बड़े-बड़े स्थान से निमन्त्रण आ रहे हैं, मुझे ऐसे-ऐसे लोग आह्वान करते हैं, मुझे इतना योग्य मानते हैं, मुझे ये व्यक्ति योग्य मानते हैं, मैं इतना ऊँचा हूँ। ऐसे अभिमान नहीं करना है। यदि सङ्ग करेंगे तो पुनः अनिष्ट प्रसङ्ग दुबारा आप गिर जायेंगे। बड़े-बड़े निमंत्रण आयेंगे, बड़े-बड़े प्रलोभन आयेंगे इसके द्वारा प्रभावित हो जाता है वह सत्य को नहीं देख सकता उस चमक-दमक में ही रह जायेगा। सामाजिक कार्य करता है, उसी में यदि रह गया और आगे अन्दर आत्मतत्त्व तक नहीं पहुँच सकता है। विद्या थोड़ी पढ़कर व्यक्ति पढ़ाने लग जाता है, गुरुकुल खोलने लग जाता है। थोड़ा सा ही पढ़ा है पूरा

अभी स्वयं नहीं पढ़ा है अब गुरुकुल खोलकर पढ़ाना शुरू कर दिया । अब तो व्यक्ति सत्य तक नहीं पहुँच सकता है, अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच सकता है । थोड़ा सा योगाभ्यास किया यम-नियम का थोड़ा सा पालन किया थोड़ा आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान अभ्यास किया । उसके बाद योगाभ्यास सिखाने को ही अपना धंधा बना दिया । स्वयं और अधिक उन्नति नहीं कर पायेगा । सत्य तक नहीं पहुँच पायेगा । क्यों ये सब चमकीले जो संसार के आकर्षण हैं, संसार का निमंत्रण है वह सत्य को ढककर रखते हैं ।

‘तत्त्वं पूषन्’ उसकी जो पुष्टि चाहता है अर्थात् जो मेरे अन्दर परोपकार करने की भावना है, जो मेरे अन्दर विद्या प्राप्ति की इच्छा है, जो मेरे अन्दर साधना की अभिलाषा है, उसको पूर्ण करना है । तब तक बाहर के कार्यों को गौण रखना है, अपनी उन्नति को प्रमुख रखना है । तब आगे भी बढ़ेगा और साथ-साथ परोपकार भी करेगा । यदि उसी को ही प्रधान बना दिया, उसको मुख्य बना दिया तो अपना और नहीं हो पायेगा, सत्य तक नहीं पहुँच सकता जितनी उन्नति हो गयी उतने में ही रुक जायेगा । एक बार व्यक्ति अपनी उन्नति को छोड़कर परोपकार के कार्यों में लग जाता है तो दुबारा वापस आना कठिन होता है । हम व्याकरण पढ़ने गये थे वहाँ आचार्य प्रदीप जी ने पहले दिन ही बताया कि देखो जो संन्यासी होते हैं और जो प्रचारक होते हैं और जो अध्यापक होते हैं वे व्याकरण नहीं पढ़ पाते हैं । क्योंकि उन्हें समाज में बहुत मान-सम्मान मिला होता है और उनका विचार जो है बिखरा हुआ रहता है । विद्या में एकाग्रता नहीं कर पाते हैं । कोई-कोई अपवाद हो तो अलग बात है लेकिन प्रायः करके ऐसे होते हैं, वे लोग आते हैं, थोड़े दिन रहते हैं फिर चले जाते हैं । यह क्या कारण है ? हिरण्यपात्र के द्वारा वे आकर्षित हो गये तो सत्य तक वे नहीं पहुँच पाते हैं । मन्त्र कहता है ‘तत्त्वं पूषन् अपावृणु’ उसको हटाओ । ये जो सांसारिक आकर्षण हैं, लोगों का निमन्त्रण उसको रोककर रखो । योगदर्शन में कहा है — यह कृपणों का है । कृपण कौन

होता है ? कंजूस । कंजूस मतलब ? अपना पैसा खर्च नहीं करता है, उसे कंजूस कहते हैं । जो पैसा अपने पास है उसको खर्च नहीं करता है तो उसको कहते हैं यह बड़ा कंजूस है । वास्तव में तो पैसा को बचा कर रखना यह तो अच्छी बात है उसमें कोई दोष नहीं है लेकिन जहाँ आवश्यक खर्च करना है उस आवश्यक खर्च को भी नहीं करता है तो वह दोषी है । कोई वस्तु आवश्यक है, अब वह सोचता है कि पैसा खर्च हो जायेगा बचाकर रखूँ । जैसे अतिथि आये हैं अब अतिथि सत्कार करने से पैसा तो खर्च हो जायेगा, वह कहेगा ठीक है पानी पिला दें, इनको फल, दूध देने की क्या आवश्यकता है ? यह कंजूस व्यक्ति है । अब कोई भी आवश्यक साधन है गाड़ी हो, वस्त्र हो, ऋतु के अनुकूल वस्त्र, वर्षाऋतु है तो वर्षाऋतु के अलग पोषाक होते हैं, शीत ऋतु के अलग होते हैं, ग्रीष्म ऋतु के अलग होते हैं । उनका प्रयोग न करना क्यों ? पैसा खर्च हो जायेगा । यह व्यक्ति जो है आवश्यक खर्च को भी नहीं करता है यह कंजूस है । मतलब उन्नति को छोड़कर वह हानि उठाता है । पैसा बचाकर क्या करेगा ? पैसा तो कमाया था सुख प्राप्त करने के लिए, अब सुख को छोड़कर पैसा को बचाकर रखता है । ऐसे अविवेकी व्यक्ति को कंजूस कहा जाता है । व्यास जी कहते हैं कि ये सब जो आप दे रहे हैं भोग्य पदार्थ, मान, सम्मान ये सब कृपणों के लिए हैं । जो व्यक्ति उसी को प्रयोग करता है वह कृपण है अर्थात् बड़े लाभ को छोड़कर जो इन छोटे-छोटे विषय भोगों में फँसता है, वह व्यक्ति कृपण है ।

महर्षि दयानन्द जी को कहा जाता है कि उन्होंने बहुत त्याग किया । त्याग तो क्या किया अपने सिर पर जो भार था उसे उठाकर फेंक दिया यह लाभ है । अनावश्यक चीजों को सब फेंकते-गये, फेंकते-गये, फेंकते-गये तब जाकर वहाँ तक पहुँचे हैं । इन्हीं चीजों में यदि फँस जाते तो उसी में रह जाते आगे नहीं बढ़ पाते ।

हिरण्मय पात्र हटाना पड़ेगा, उसको दूर करना है । किसलिए ? 'सत्यधर्माय दृष्टये' सत्यधर्म = सत्य आचरण = सत्य कर्तव्य । 'धर्म' का अर्थ होता

है यह मेरा धर्म है अर्थात् यह मेरे द्वारा करने योग्य है, मेरे द्वारा पालनीय है, मेरे द्वारा आचरण के योग्य है, उसको कहते हैं सत्य धर्म। तो सत्य धर्म के लिए व्यक्ति को इस आवरण को हटाना है, प्रलोभन जो हैं ये सब आवरण हैं, प्रलोभन में यदि फँसते हैं तो सत्य धर्म को प्राप्त नहीं कर सकते वह व्यक्ति सत्य आचरण कर ही नहीं सकता। किसी भी विषय में यदि थोड़ा सा भी आकर्षण हैं, तो पूर्ण सत्य आचरण नहीं कर सकता व्यक्ति, जहाँ-जहाँ उसका आकर्षण है वहाँ-वहाँ प्रलोभन में फँसेगा, वहाँ-वहाँ सत्य को छोड़ देगा। महर्षि मनु जी ने एक बहुत बढ़िया बात बतायी है, सत्यार्थ प्रकाश तीसरा सम्मुल्लास में भी लिखा है कि धर्म का ज्ञान किसको होता है? कहते हैं 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते' जो अर्थ में और काम में आसक्त नहीं है वही व्यक्ति धर्म को जान सकता है। जो व्यक्ति पैसे के पीछे पागल है वह व्यक्ति धर्म को नहीं समझ सकता है। जो व्यक्ति काम अर्थात् विषयभोग कामनाएँ = इच्छाएँ पूरी करने के लिए व्याकुल रहता है। वह धर्म को नहीं जान सकता है, सत्य धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता है। न्याय दर्शन में एक बात बताई —

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते ।

अथैनं अपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते ॥

व्यक्ति की जब एक कामना पूरी हो जाती है, उस कामना की पूर्ति से भी सुखी हो नहीं पाता है। क्योंकि एक कामना की पूर्ति होते ही दूसरी कामना शीघ्र ही आ जाती है। ऐसे दूसरी कामना के बाद तीसरी कामना, एक के बाद एक कामना बढ़ती ही जाती है, पूरा जीवन ऐसे चला जाता है। जो अपने सपनों को, कामनाओं को ही पूरा करने के लिए व्याकुल रहता है वह धर्म ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता है। अर्थ और काम दूसरे शब्दों में कहे तो जिसके अन्दर पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा अत्यधिक प्रबल है, वह धर्म को नहीं जान पाता है। कुछ तो एषणा सब के अन्दर रहती है, जीवन्मुक्त योगी को छोड़कर। एषणा सामान्य है तो साधारण बाधक है, प्रबल है, प्रबल बाधक है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा जितनी—

जितनी कम होती है तो उतना उतना धर्म की ओर बढ़ता है, वह सत्य धर्म को प्राप्त करता है 'सत्यधर्माय दृष्टये' सत्य धर्म को देखने के लिए अर्थात् जानने के लिए वह व्यक्ति समर्थ होता है जो व्यक्ति अर्थ और काम में आसक्त नहीं होता है, एषणाओं को कम करते हैं तो सत्य धर्म का ज्ञान होता है। संसार में बहुत प्रकार के सुख उपलब्ध हैं उन संसार के सुखों को योगदर्शनकार ने दो भाग में विभाग किया — (१) काम सुख, (२) दिव्य सुख। संतोषफल की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा —

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

कामनाओं को पूरा करने से हमें जो सुख होता है और संसार में जो-जो बड़े-बड़े महान् दिव्य सुख हैं ये सुख 'तृष्णाक्षयसुखस्यैते' तृष्णाओं का क्षय होने से जो सुख मिलता है अर्थात् संतोष से प्राप्त सुख के यह सोलहवाँ भाग भी नहीं है। तृष्णाओं को छोड़ने से व्यक्ति सत्य को जान सकता है, धर्म को जान सकता है। मन्त्र में दूसरी पंक्ति में यह बात बता रहे हैं — 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु' 'तत्' वह जो हिरण्मय पात्र है, जो चमकीला ढक्कन है उसको (पुष्टि चाहने वाला तुम) हटाओ। जो भी किसी भी क्षेत्र में पुष्टि को चाहता है तो उसको ये चमकीले पदार्थ, बाहर के आकर्षण, चका-चौंध से दूर रहना पड़ेगा तब वह पुष्टि को प्राप्त होगा, तब वह सत्य धर्म को जान सकता है, सत्य धर्म को जानने के लिए यही उपाय बताया है। और भी इस मन्त्र की बहुत व्याख्या हो सकती है।

संसार में प्रायः करके लोग एक प्रश्न उठाते हैं — जो पाप करता है लगता है कि वह बढ़ता रहता है और जो पुण्य करता है वह बड़ा दीन-हीन, सादा जीवन जीता है उसके पास साधन कम हो जाते हैं, ऐसा लगता है। एक व्यक्ति रिश्वत लेता है तो देखते हैं कि उसके पास महल भी खड़ा है, गाड़ियाँ भी हैं, बहुत सारे साधन उपलब्ध हो जाते हैं और

एक व्यक्ति ईमानदारी से, पुरुषार्थ करके जितना मिलता है उतने में रहता है और सादा जीवन जीता है। ये जो बढ़ रहा है यह क्या है 'हिरण्मयेन पात्रेण' बाहर के ये भौतिक साधन सुविधाएँ चमकीले हैं। प्रारम्भ में अधर्म करते हुए लगेगा व्यक्ति बढ़ रहा है, बाहर का यह आवरण है। किन्तु पाप आचरण करनेवाला व्यक्ति अन्दर से कितना बेचैन/अशान्त रहता है, हमेशा आशंकित, भयभीत रहता है। चित्त में विक्षोभ बना रहता है। दुःखी, व्याकुल होते हुए दिखाता मैं सुखी हूँ। अन्दर जो आवरण द्वारा ढका हुआ पाप है, उस पाप का फल प्रकट नहीं हुआ है। पहले उस आत्मा ने कुछ कर्म किया था जिसके आधार पर उसे यह मनुष्य जन्म मिला है। मनुष्य जीवन में जो उपलब्धि हो रही है जैसे माता, पिता, स्वस्थ-सकलांग शरीर बौद्धिक क्षमता यह सब पिछले कर्मों का फल है। इस जन्म में और वर्तमान समय में जो कर्म कर रहा है, वह प्रकट नहीं है अन्दर छिपा हुआ है। परमात्मा उसका फल समय आने पर देंगे। कभी भी किसी बाह्य आलम्बन को, बाह्य आकर्षण को, बाह्य निमन्त्रण, बाह्य प्रलोभन को देखकर प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसके अन्दर क्या है ? अन्तिम परिणाम क्या होगा ? उसको दूरदृष्टि से देखकर जीवन में निर्णय करना चाहिए। सत्य धर्म को जानना है तो आवरण को हटा कर देखना होगा। मन्त्र का यह सन्देश है। अगला मन्त्र :-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ

पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पहला शब्द वही है 'पूषन्' पुष्टिकर्ता यहाँ परमात्मा को संबोधन किया जा रहा है। हे परमात्मन् आप 'पूषन्' हैं। जो मनुष्य पुष्टि को चाहता है वह भी पूषन् है और परमात्मा हमेशा पुष्ट ही रहता है और हमेशा पुष्टि को बढ़ाता है। वेद में कहा है — “त्र्यम्बकं यजामहे सुगधि

पुष्टिवर्धनम्” परमात्मा पुष्टि को बढ़ाने वाला है तो परमात्मा को सम्बोधन करते हैं। ‘हे पूषन्’ आप सबको पुष्ट करने वाले हैं। एकर्षे एक + ‘ऋषि’। ऋषि किसको कहते हैं? “ऋषिः दर्शनात्” निरुक्त में कहा जो दर्शन करते हैं, प्रत्यक्ष, साक्षात्कार करते हैं उनको ऋषि कहते हैं। “ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः” यह वाक्य भी निरुक्त का ही है। जो मन्त्र के द्रष्टा होते हैं, उनको ऋषि कहा जाता है तो सबसे बड़ा ऋषि कौन है? ईश्वर। ईश्वर जैसे जानता है, दर्शन करता है, ऐसे कोई नहीं जानता है। सबसे बड़ा द्रष्टा, सबसे बड़ा ऋषि परमेश्वर है और कहा एक ही है। परमात्मा अद्वितीय ऋषि है और बाकी जितने ऋषि हैं उनका तो विकल्प है। महर्षि दयानन्द जी थे, अब महर्षि दयानन्द जी के ग्रन्थ न हो तो हम दूसरे ग्रन्थों से प्राप्त कर सकते हैं। अनेक ऋषि इस पुण्य भूमि में उत्पन्न हुए, चले गए, और भी होंगे। ऋषि तो बदलते रहते हैं लेकिन परमात्मा ऐसे ऋषि है जिनके तुल्य कोई भी नहीं है, जिससे बढ़कर कोई भी नहीं है वह एक ही है तो उनको कहा एकर्षे। ‘एकर्षे’ सम्बोधन में है। ‘पूषन्’ यह भी सम्बोधन है।

हे पूषन्, हे अद्वितीय ऋषि ‘यम’ यह भी सम्बोधन में है। ‘यम’ किसको कहते हैं जो नियंत्रण करता है। योग के अंग में भी पहला अंग यम है तो यम को यम क्यों कहते हैं? वह हमको नियंत्रण करता है। हिंसा नहीं कर सकते वह आपको हिंसा करने से रोककर रखता है, इसलिए उसका नाम यम है, अहिंसा प्रथम यम है। झूठ बोलने से हमको रोकता है इसलिए वह सत्य है, परमात्मा सबसे बड़ा नियमन करने वाला है। परमात्मा को यहाँ सम्बोधन किया गया कि हे यम। परमात्मा कैसे नियमन करता है? एक तो संसार में ईश्वर की जैसी व्यवस्था है उस व्यवस्था में हमको चलना पड़ता है और कोई व्यक्ति अन्याय, अत्याचार करता है तो ईश्वर उसका जीवन समाप्त कर देता है और जो कर्म वह करता था उसको मनुष्य योनि से हटा देता है, उसको उस कर्म से वह रोक देता

है, इसलिए परमात्मा का नाम यम है। संसार में जो प्रचलित है कि मृत्यु के बाद यमराज के पास जाते हैं वह यमराज क्या है ? हमने जीवन में जो-जो कर्म किए उसको वह नियंत्रण करने वाला है तो इसलिए परमात्मा को यम कहते हैं।

अगला शब्द है सूर्य। 'सूर्य' शब्द भी संबोधन में है। अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय के पहले पाद में सूत्र है — **राजसूयसूर्य-मृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्ट्यपच्याव्यथ्याः**। सूर्य शब्द वहाँ है। सूर्य शब्द में **सृ** गतौ धातु है, **क्यप्** प्रत्ययान्त है जो हमेशा गतिशील रहता है, उसको कहते हैं 'सूर्य'। सूर्य का कार्य देखो, उसकी किरणें देखो, उसका कार्य हमेशा चलता रहता है और सूर्य हमेशा प्रेरित करता रहता है। सूर्य उदय होते ही सब पेड़-पौधे, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि सब सक्रिय हो जाते हैं। सक्रिय करनेवाला कौन है ? ऐसी व्यवस्था बनी हुई है सूर्य उदय हो, प्रकाश हो, किरणें हों तो हमारे शरीर में अपने आप परिवर्तन होता है। स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति ईश्वर ने बना रखी है। सूर्य उदय होते ही हमारे अंदर प्रेरणा हो जाती है। व्यक्ति और ज्यादा सो नहीं सकता, वह तो कृत्रिम रूप से अपनी नैसर्गिकता को भंग करके दस बजे तक, आठ-नौ बजे तक सोते हैं, वह तो अलग बात है लेकिन नियम तो है कि रात दस बजे के बाद जगना नहीं और सुबह पाँच बजे के बाद सोना नहीं। सूर्य हमेशा गतिशील है, कभी भी अपनी गति नहीं छोड़ता, सूर्य का अर्थ जो सूर्य की किरणें हैं वे भी सूर्य का ही भाग मानते हैं, उसमें हमेशा गति रहती है। हमेशा यहाँ तक सूर्य की किरणें आती हैं। पृथ्वी घूम भी जाये दूसरी दिशा में किरणें चलती ही रहती है तो सूर्य कभी भी अपना कार्य बंद नहीं करता हमेशा गतिशील रहता है तो परमात्मा को यहाँ सूर्य कहा गया। परमात्मा गति करता है या नहीं करता ? गति के तीन अर्थ हैं — (१) ज्ञान, (२) गमन, (३) प्राप्ति। जहाँ भी परमात्मा के लिए गति अर्थ वाली धातु का प्रयोग आता है, वहाँ प्राप्ति अर्थ लेना

चाहिए। हर जगह परमात्मा प्राप्त है = पहुँचा हुआ है, वही उसकी गति है। हम भी गति करके क्या करते हैं? किसी स्थान पर पहुँचते हैं। चौथे मन्त्र में कहा है “**मनसो जवीयः**” मन से भी अधिक गतिमान अर्थात् मन के पहुँचने से पहले ही पहुँचा हुआ सदा सर्वत्र व्यापक है। दूसरा अर्थ परमात्मा सब को प्रेरित करता है। हर समय हमारे अन्दर परमात्मा की प्रेरणा उत्पन्न होती है, हम उसको ग्रहण करें या न करें वह हमारी स्वतन्त्रता है। परन्तु प्रेरणा तो सदा देता रहता है। प्रेरक होने से परमात्मा सूर्य है।

‘**प्राजापत्य**’ प्रजापति शब्द का अर्थ प्रजाओं का पालन करने वाला, प्रजाओं की रक्षा करने वाला है। प्रजापति से सम्बन्ध है प्राजापत्य। परमात्मा हमारा राजा है, हम उसकी प्रजा हैं। इसलिए परमात्मा को प्रजापति भी कहते हैं।

‘**व्यूह**’ आपने सुना है एक शब्द चक्रव्यूह। युद्ध में अनेक प्रकार व्यूह बनाते हैं। चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, शंखव्यूह इत्यादि। व्यूह का अर्थ होता है रचना करना। न्यायदर्शन शास्त्र में भी व्यूह शरीर की रचना आदि के लिए प्रयोग हुआ है। यह क्रियापद है। परमात्मा से भक्त प्रार्थना करता है — **हे पूषन् एकर्षे ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य व्यूह** आप ऐसी रचना कीजिए जिसमें “**रश्मीन् समूह**” रश्मीन् का अर्थ बहुत सारी रश्मियों का समूह; जैसे व्यूह में वि + ऊह वैसे ही सम् + ऊह इकट्ठा कर दीजिए। जो रश्मियाँ फैली हुई हैं उनको एकत्रित करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है। कौन-सी रश्मियाँ फैली हुई हैं? थोड़ा सा पिछे के मन्त्र के साथ जोड़ना पड़ेगा। पिछले मन्त्र में क्या था? **हिरण्यमेन पात्रेण** ये जो चमक दमक फैली हुई है, ये सब रश्मियाँ हैं। संसार में जो आकर्षण हैं, आकर्षण करने वाले आवरण बहुत अधिक फैले हुए हैं। भक्त प्रार्थना करता है प्रभु इनको आप इकट्ठा कर दीजिए, एकत्रित कर

दीजिए, इन को छिपा दीजिए। जैसे कभी रात्रि में रास्ते में जा रहे हैं, सामने से कोई बड़ी गाड़ी आ रही है। उस गाड़ी की हेडलाईट जल रही है तो आपको लाईट ही दिखती है, गाड़ी नहीं दिखती है। कौन सी गाड़ी है बस है या ट्रक है या अन्य कोई गाड़ी है पता नहीं चलता है। जब गाड़ी वाला हेडलाईट बन्द करके डीपर लाईट जला दें तो गाड़ी का पता चल जाता है। जब रश्मियाँ फैली हुई रहती हैं तो अन्दर का स्वरूप दिखता नहीं है, जहाँ से ये रश्मियाँ निकल रही हैं वह स्रोत हमें पता नहीं चलता है। रश्मियाँ सिमट जाएँ कम हो जाए तो सौम्य प्रकाश में हम देखने में समर्थ हो जाते हैं। उदयकालीन सूर्य को हम सीधा खाली आँख से देख सकते हैं। दोपहर दो बजे आप सीधा सूर्य को देखना चाहेंगे तो देख नहीं सकते हैं। जैसे ही देखते हैं आँख चुँधिया जाती है, असहनीय लगता है, आँखों में कष्ट होता है। जब प्रकाश कम हो जाता है, हम आराम से देख लेते हैं ढलते हुए सूरज को। चन्द्रमा में तीक्ष्ण प्रकाश नहीं इसलिए आराम से हम देख लेते हैं। जैसे सूर्य की किरणें हैं वैसे चन्द्रमा की किरणें नहीं हैं। चन्द्रमा का सौम्य प्रकाश है, मृदु प्रकाश है। तीव्र प्रकाश या तीक्ष्ण प्रकाश है तो देख नहीं पाते हैं और स्वल्प/मृदु – सौम्य प्रकाश है तो देख लेते हैं।

मन्त्र में भक्त ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है कि हे पूषन् पुष्टि को देने वाले परमेश्वर, एकर्षे – आप एक अद्वितीय ऋषि हैं, आप यम हैं = नियमन करने वाले हैं। आप सूर्य हैं = प्रेरित करने वाले, सदा सब जगह प्राप्त हैं, प्रजाओं के पति हैं पालन रक्षा करने वाले हैं। आपने रश्मियों को बनाया है। जो ये रश्मियाँ फैली हुई हैं, संसार में सब जगह ऐश्वर्य भरा हुआ है। परमात्मा ने इन ऐश्वर्यों को बनाया ही ऐसा आकर्षक, जो इन ऐश्वर्यों के प्रति आकर्षित होता है वह इनको पार करके ईश्वर तक नहीं पहुँच पाता है। जो चमकीले ऐश्वर्य को हटाता है, वह ईश्वर तक

पहुँचता है। भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता है, प्रभो! यह जो चमकीला ऐश्वर्य है, इनके प्रति मेरे मन में आकर्षण होता है; इस आकर्षण को हटा दीजिए। भौतिक ऐश्वर्यों के प्रति आकर्षण के पीछे मेरा जो अशुद्ध ज्ञान काम कर रहा है, उस ज्ञान को हटा दीजिए। बाहर के ऐश्वर्य, वस्तु, सभी द्रव्य तो ऐसे ही रहेंगे। हटाना होगा हमारा ज्ञान = सुख बुद्धि = भौतिक वस्तु से तृप्त हो जाने की अभिलाषा।

योगदर्शन में सूत्र है — कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥

२-२२ ॥ जिन्होंने पुरुषार्थ करके अपने प्रयोजन को पूरा कर दिया उस व्यक्ति को कहते हैं कृत + अर्थ = कृतार्थ व्यक्ति। जो मनुष्य जीवन का प्रयोजन (= अर्थ) था, वह प्रयोजन पूरा हो गया है। ऐसे कृतार्थ व्यक्ति के लिए संसार नष्ट हो गया है। संसार तो क्या नष्ट होगा, उसके ज्ञान में रहता है यह संसार मेरे लिए काम का नहीं है, मुझे इस से कुछ मिलने वाला नहीं है। किन्तु जो दूसरे लोग जिनका विवेक वैराग्य पूरा नहीं हुआ है उन के लिए तो संसार नष्ट नहीं हुआ है। अर्थात् उनको संसार भोग्य लगता है। जिन्होंने समाधि लगाकर, समस्त क्लेशों को दग्धबीज कर दिया, उस का प्रयोजन पूरा हो गया है। उस व्यक्ति के लिए संसार नष्ट हो गया है। संसार की किसी वस्तु से, किसी व्यक्ति से किसी स्थिति/ उपलब्धि से उसका कोई प्रयोजन बाकी नहीं है। उस के लिए सारा संसार नष्ट जैसे हो गया। हमारा प्रयोजन है तो संसार हमारे लिए है, प्रयोजन नहीं है तो नहीं है। जैसे किसी के साथ झगड़ा हो जाए, भले पिता-पुत्र हो या भाई-भाई हो तो क्या कहते हैं? आज से तू मेरे लिए मर गया है। इस वाक्य का क्या अर्थ होता है? सम्बन्ध/व्यवहार समाप्त हो गया है। अर्थात् मेरे से तुझे कोई लाभ नहीं मिलेगा तुझ से मुझे कोई लाभ/उपकार नहीं चाहिए, तू मर गया/नष्ट हो गया मतलब वास्तव में

नहीं मर जाता है, वह तो जीवित है फिर भी कह देते हैं मर गया। अर्थात् तेरे से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। तेरे से कोई सहायता नहीं चाहिए, मुझे तेरी आवश्यकता नहीं है। वैसे ही योगी व्यक्ति के लिए यह संसार मर गया है, पूरा संसार उसके लिए समाप्त हो गया है। हे परमात्मन् मुझे ऐसा ज्ञान दे दो कि मैं इन संसार के आकर्षण हिरण्मय पात्र में फँस कर रह न जाऊँ। इन चमकीले पदार्थों से अपनी दृष्टि हटाएँगे, जैसे अभी हम सामने देख रहे हैं, सामने से दृष्टि हटाएँगे पीछे की ओर देख सकते हैं। वैसे संसार से दृष्टि हटाएँगे तो किस को देख सकते हैं ?

अगली पंक्ति में बताया गया है — तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं परमात्मा को तेजः कहते हैं। तेज का अर्थ प्रकाशशील है। परमात्मा में कौन सा तेज है ? ईश्वर में ज्ञान रूपी तेज है, विद्या रूपी तेज है। ‘यत् ते’ ते का अर्थ तब, जो तुम्हारा तेजोमय और कल्याणतम रूप कहा गया है। रूप का अर्थ होगा स्वरूप। कैसा है ईश्वर का स्वरूप ? कल्याणतमम्। तम लगाने से क्या अर्थ हो जाता है ? अतिशय अर्थ है। कल्याण अच्छा, कल्याणतर और अच्छा, कल्याणतम सबसे अच्छा (Superlative degree) अर्थ है। कल्याण = मंगल = आनन्दकर = वास्तविक हितकारी = अच्छा = लाभप्रद को कहते हैं। ईश्वर हमारा जितना अधिक कल्याण करते हैं उतना कल्याण और कोई नहीं करता है, कोई भी नहीं कर सकता है। संसार में जितने मनुष्य हैं और जितने जड़ पदार्थ हैं ये सबके सब मिलकर हमारा उतना उपकार नहीं कर सकते हैं जितना कल्याण अकेले ईश्वर करता है। ईश्वर हमारा परम हितैषी है। अन्य मनुष्य हितैषी तो हो सकते हैं किन्तु सर्वाधिक हितैषी परमात्मा ही है। चाहे माता हो, पिता हो, पति हो, पत्नी हो, भाई हो, बहन हो, गुरु हो, आचार्य हो, मित्र हो कोई भी हो वे हितैषी तब तक होते हैं जब तक उनका हित बाधित न हो। साक्षात् अथवा परोक्ष

रूप में हमारे हित में उनका हित छिपा रहता है। लेकिन ईश्वर एक मात्र ऐसा हितकारी कल्याणकारक तत्त्व है, जो अपने लिए कुछ भी न चाहते हुए हमारा हित करता है। इसलिए मन्त्र में कहा है ‘कल्याणतमं रूपम्, तत् ते पश्यामि’ तुम्हारा जो कल्याणतम स्वरूप है उस स्वरूप को मैं पश्यामि देखूँ, यह लट् लकार में है, परन्तु वेद में लेट् लकार में भी यह रूप बनता है। लेट् लकार लिङ्-अर्थे लेट् सूत्र से विधि प्रार्थनादि अर्थ में होता है। मैं तुम्हारे कल्याणतम स्वरूप को देखूँ, देख सकूँ, देखने में समर्थ हो जाऊँ। अर्थात् भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता है कि जितने चमक-दमक पदार्थ संसार में हैं ये सब आपकी किरणें हैं, यह जो प्रकाश फैला हुआ है, ये मेरी आँखों को चुंधता है। जैसे मध्याह्न सूर्य, हेलोजन लाइट आदि को देखते हैं तो आँख को कष्ट होता है। वैसे ही ये सब प्रलोभन हमें आकर्षित करते हैं, बेचैन करते हैं, उस में हम उलझ कर रह जाते हैं। जब उन प्रलोभनों को हटाएँगे तो क्या दिखेगा ? प्रभु के कल्याणतमं रूपम्। बाहर के आलम्बन वृत्तियों को हटाते हैं तभी चित्तवृत्तिनिरोधः समाधिः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् हो जाता है।

परमात्मा से प्रार्थना है कि जो यह सुख बुद्धि बनी हुई है, संसार ही हितकर लगता है उस बुद्धि-ज्ञान को समेट लीजिए, दूर कर दीजिए और उस को दूर करने से आपका कल्याणतम स्वरूप प्रकट हो जाएगा। हमारे अन्तःकरण में चित्त में बाहर के पदार्थों के प्रति आकर्षण है, राग है। राग हट जाए तो क्या होगा ? सांख्य दर्शन में कहा है — ‘रागोपहतिर्ध्यानम्’ राग के हट जाने पर ध्यान की सिद्धि होती है। राग अत्यन्त होने पर ध्यान में सफलता नहीं मिलती है। जिसके प्रति राग है वही विचार बार-बार आता है, बैठते हैं ईश्वर का ध्यान करने के लिए, “ओम्” का या गायत्री का जप करते हैं, थोड़ी देर में जिस वस्तु/व्यक्ति/स्थिति के प्रति राग है वही विचार उत्पन्न करते हैं। कितने प्रकार के विचार आते हैं ?

सभी विचारों का मूल कारण है राग । राग के साथ जुड़ा हुआ है द्वेष । जिसमें हमारा राग है, उसमें जो बाधा पहुँचाता उसके प्रति द्वेष हो जाता है । भक्त को यह पता है, इस कारण से प्रभु दर्शन नहीं हो पा रहा है । मेरा यह जो ज्ञान है सांसारिक पदार्थ हिरण्मय है, चमकीला है, बड़ा सुखप्रद है इस ज्ञान (मिथ्याज्ञान) को हटा दीजिए, मैं आपके कल्याणतम स्वरूप का दर्शन कर सकूँ । कौन कह रहा है ? एक साधक/एक भक्त/एक उपासक/मुमुक्षु व्यक्ति का हृदय उद्गार है ।

अब अगली बात देखिए — ‘यो असौ असौ पुरुषः सोऽहम् अस्मि’ मन्त्र के पश्यामि शब्द तक भक्त की प्रार्थना थी, एक उपासक निवेदन कर रहा था । अब उसके बाद ईश्वर का वचन है ईश्वर क्या उत्तर दे रहा है ? परमात्मा भक्त को कह रहा है जो आप कह रहे हो यम, सूर्य, जो कह रहे हो प्रजापति वह जो पुरुष है; वह पुरुष और कोई नहीं है, मैं हूँ । यह जो दो मन्त्र हैं १५वाँ और १६वाँ थोड़े भेद से यजुर्वेद (४०-१६) में एक मन्त्र के रूप में है ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ।

जो आदित्य में पुरुष है वह एक ईश्वर ही है, भिन्न नहीं है । यो—असौ—असौ पुरुषः संसार में प्रत्येक पदार्थ में जो विशेषता विद्यमान है, वह विशेषता ईश्वर को द्योतित कर रही है । सन्ध्या मन्त्र में हम पढ़ते हैं — उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । केतु क्या होता है ? झण्डा/पताका । यह झण्डा या पताका किसका द्योतक/प्रकाशक चिह्न है ? फहरते हुए झण्डे को दूर से देखकर हम जान लेते हैं यहाँ कोई आश्रम है, धार्मिक संस्था/मन्दिर है । झण्डा बताता है यहाँ कार्यक्रम चल रहा है इत्यादि । जैसे झण्डे से आश्रम/मन्दिर का परिज्ञान हो जाता है । वैसे वेद मन्त्र

कहता है संसार में जो भी प्राकृतिक नियम दिख रहे हैं, ज्ञात हो रहे हैं उन सब नियमों से नियामक द्योतित है, समस्त ऐश्वर्यशाली पदार्थों में विद्यमान ऐश्वर्य को देखकर उन ऐश्वर्यों के स्वामी ईश्वर का अनुमान होता है। 'असौ' शब्द अदस् का प्रथमा एकवचन है। असौ/अदस् शब्द परोक्ष/दूर के पदार्थ के लिए प्रयोग होता है। जो दूर-दूर जितने पदार्थ दिख रहे हैं उनमें जो विशेषता है। वहाँ भी विद्यमान नियामक मैं एक ईश्वर ही हूँ, कोई दूसरा नहीं है। इसको श्रीमद् भगवद् गीता में विशेष ढंग से बताया हर प्रकार के पदार्थ में जो सब से उत्कृष्ट है वहाँ ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। संसार के सभी विशेष पदार्थों में पुरुष विशेष ईश्वर विराजमान है।

कल्पना कीजिए यह जो पीछे चित्र लगा हुआ है, उसको देखते हैं। एक व्यक्ति की दृष्टि होगी कि चित्र बहुत बढ़िया बना हुआ है। उस चित्र के आकर्षण में ही वह लिप्त हो जाता है, अपने आप को खो देता है। एक दूसरा व्यक्ति उस चित्र को देखकर सोचता है कि इस चित्र को बनाने वाला कारीगर, चित्रकार कितना बढ़िया होगा जिसने इतना सुन्दर चित्र बनाया। देख रहा है चित्र को और प्रशंसा कर रहा है चित्रकार की संसार के एक-एक पदार्थ जो हमें आकर्षक/हिरण्मय/चमकीले लग रहे हैं, जितने भी ऐश्वर्य हैं उनको उस रूप में दिव्य बनाने वाला परमात्मा है। परमात्मा उस-उस स्थान में विद्यमान भी है और उनकी विशेष रचना करने वाला भी है। हम संसार के लुभावने आकर्षक पदार्थों को देखें और उन्हीं के प्रति ही आकर्षित हो जाएँ यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि है सत्यधर्माय दृष्टये ऐश्वर्य को देख रहे हैं, ऐश्वर्य के प्रति लालायित/मोहित न होकर उन सब के अन्दर अदृश्य परमात्मा की विद्यमानता एवं उन सब के निर्माण कर्ता परमात्मा को समझना ये दोनों बातें हैं। कर्तृत्व को देखना है। महर्षि ने इस रचना गुण से रचयिता का प्रत्यक्ष बताया

है। एक-एक पदार्थ में ईश्वर के कर्तृत्व गुण का प्रत्यक्ष हो रहा है। इस बात को यहाँ बताया “योऽसौ—असौ पुरुषः” जो हर ऐश्वर्य में विद्यमान है, वही परमात्मा है अलग नहीं है। कुछ विशेष बातें इस मन्त्र में बताई गई हैं। संसार का आकर्षण क्या है और हम उसको किस दृष्टि से देखें? किस दृष्टि से देखने पर व्यक्ति उसी में फँस जाता है और किस दृष्टि से देखने पर उसके आकर्षण से बाहर आकर परमात्मा तक पहुँच जाता है? दृष्टि देखने का तरीका/प्रकार/दृष्टिकोण का यहाँ वर्णन किया है। पिछला मन्त्र और यह मन्त्र मिलकर अर्थ देते हैं, पिछले मन्त्र में जिसको हिरण्मय पात्र बताया उसको यहाँ रश्मीन् शब्द से कहा। ये रश्मियाँ फैली हुई हैं। इनको समेटना अर्थात् इनके प्रति जो अभिलाषा रहती है, इन से तृप्ति की भावना/आशा रखते हैं, उस भावना को बदलना है, उस ज्ञान को बदलना है। यह आवश्यक है, ५० वस्तु के प्रति आकर्षण को समेटना और परमात्मा का कल्याणतम रूप का भी दर्शन करना। जहाँ भी आकर्षण होता है वहाँ परमात्मा की उपस्थिति और परमात्मा की कलाकारी देखने का अभ्यास करना चाहिए। इसके द्वारा हम संसार से हटकर ईश्वर तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। आज के पाठ को यहीं विराम देते हैं। ओऽऽऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



बारहवीं कक्षा

उपनिषद् की बारहवीं कक्षा है। ईशोपनिषद् में हमने सोलहवें मन्त्र तक विवेचन किया है। पीछे हमने पन्द्रहवें और सोलहवें मन्त्र के ऊपर चर्चा की। उसके ऊपर थोड़ा पूछते हैं। मनोज जी बताईये ! व्यूह और समूह का क्या अर्थ है ? व्यूह = फैला हुआ और समूह = एकत्र करना, संसार की चमक-दमक आदि जो है उसके प्रति आकर्षण को हटा देना। कृपासिन्धु जी बताईये — ‘योऽसावसौपुरुषः सोऽहमस्मि’ इसका क्या अर्थ है ? ईश्वर, आत्मा अलग-अलग है या एक है ? अलग-अलग हैं। जो संसार में ऐश्वर्य है उनमें भी जो पुरुष नज़र आ रहा है वह पुरुष मैं ही हूँ।

यहाँ सूर्य को लेकर कहा है। सूर्य में भी वही ईश्वर है। चन्द्रमा में भी वही ईश्वर है, धरती में भी वही ईश्वर है। वृक्ष-वनस्पति सभी के अन्दर जो ऐश्वर्य है उन सब ऐश्वर्यों में एक अद्वितीय ईश्वर ही विद्यमान है। मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ। किस रूप में ? ऐश्वर्य के रूप में सब कुछ है। इन ऐश्वर्यों के अन्दर भी परमात्मा है। और दूसरी बात ऐश्वर्य को बनाने वाला भी परमात्मा है। चित्र और चित्रकार। चित्र को देखकर चित्रकार को समझना। ऐसे ही संसार के ऐश्वर्य को देखकर उन ऐश्वर्यों का बनाने वाला परमात्मा को जानना। संसार में हमें जो सुख दिखाई देता है, उस सुख के अन्दर परमात्मा को अनुभव करना। परमात्मा की यह विशेषता है।

‘पूषन्नेकर्षे’ क्या अर्थ है ? पुष्टि करने वाले अद्वितीय ऋषि। ऋषि किसको कहते हैं ? मन्त्र द्रष्टा, साक्षाद् द्रष्टा।

इस मन्त्र में 'यम, सूर्य, प्राजापत्य' तीन शब्द हैं, इनको क्या कहते हैं ? यहाँ परमात्मा के लिए सम्बोधन किया गया है । और सूर्य शब्द किसके लिए ? ये तीनों ही परमात्मा के लिए ही सम्बोधन किये गये हैं । परमात्मा को 'यम' क्यों कहते हैं ? वह चराचर जगत् को नियम में रखने वाला है । 'सूर्य' क्यों कहते हैं ? वह सब जगत् को प्रेरणा देने वाला है । और 'प्राजापत्य' परमात्मा को क्यों कहते हैं ? वह सब जगत् का पालन करने वाला है, प्रजाओं का पालन करने वाला है ।

आप में से किसी को पूछना है कुछ ? 'असौ-असौ' दो बार दिया है, समझ में नहीं आया है ? 'असौ' का अर्थ होता है 'वह' । संसार में जो अलग-अलग पदार्थ हैं, जहाँ-जहाँ हमको विशेषता दिखाई देती है वहाँ-वहाँ बहुत सारी चीजें हैं, जैसे हम कहते हैं जहाँ-जहाँ ब्रह्मचारी हैं, सबको बुलाकर लाओ । आप कमरे में भी जाओगे, पाकशाला में भी जाओगे, विशालभवन भी जाओगे, तो अलग-अलग जगह हो गये । अलग-अलग जगह अनेक स्थान हो गये । ऐसे ही हम जब कहते हैं — वहाँ-वहाँ अर्थात् जिस-जिस स्थान में, जिस-जिस ऐश्वर्य में हमारा आकर्षण होता है उन ऐश्वर्यों के एक एक के अन्दर भी परमात्मा का दर्शन है । यह कहना चाहते हैं ।

अगला मन्त्र है —

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

मन्त्र का पहला शब्द है वायुः । उणादि के प्रथम सूत्र से 'वायु' शब्द बनता है । 'वायु' शब्द का अर्थ (वा गतिगन्धनयोः) जो गति करता रहता है, गतिशील है । उसको 'वायु' कहते हैं । संसार में हम वायु को देखेंगे तो वायु कभी-भी स्थिर नहीं होती है । आप कमरे में, सभी खिड़की, दरवाज़ा बन्द कर देंगे और पंखे भी बन्द कर देंगे, फिर भी अन्दर की

वायु स्थिर नहीं है। वह हमेशा गतिशील रहती है। कैसे पता चलता है वायु हमेशा गतिशील है? बन्द कमरे में आप अगरबत्ती जलाईये। अगरबत्ती का जो धुआँ है वह सीधा ऊपर उठता या टेढ़ा उठता है? टेढ़ा हमेशा होता है। क्यों होता है? वायु की गति है, तो बन्द कमरे में भी अन्दर जो वायु है, उसमें हमेशा गति रहती है। इसलिए इसका नाम वायु है। क्योंकि वह हमेशा गतिशील है। ऐसे ही जीवात्मा को यहाँ वायु शब्द से कहा गया। क्यों? जीवात्मा भी गतिशील है। आत्मा को आत्मा क्यों कहते हैं? 'अत सातत्यगमने' जो लगातार गति करता है। उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा का ज्ञान हमेशा बदलता रहता है। कभी-भी क्षण भर आत्मा ज्ञान से रहित नहीं होती है, इसलिए उसको आत्मा कहते हैं। सतत गमन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करती है। इसलिए इसको आत्मा कहते हैं। उसमें गति (ज्ञान) होने के कारण, उसको वायु कहा गया।

'अनिलम्' 'अन प्राणने' धातु है और इससे 'इलच्' प्रत्यय किया। 'अनिल' का अर्थ हो गया 'प्राणवायु'। यहाँ 'वायु' शब्द से ले रहे हैं 'जीवात्मा' और अनिल शब्द से ले रहे हैं 'प्राणवायु'। तीनों के अर्थ हैं— 'वायुः, अनिलम्, अमृतम्' यह जो जीवात्मा है अनिल है, प्राण को धारण करने वाला है। यह वायु है हमेशा गतिशील है, गति करने वाला है, ज्ञानशील है और अनिल है यह प्राण को धारण करने वाला प्राणी है। 'अमृतम्' 'मृत' का अर्थ 'जो मर गया' नष्ट हो गया और 'अमृत' का अर्थ जो नष्ट नहीं होता है, मरता नहीं है। यहाँ जीवात्मा को अमृत कहा जा रहा है, अमर है। आपको कभी लगता है कि मैं मर जाऊँगा या नहीं? विपरीत स्थिति रहती है हमारी। एक तो जो नष्ट होने वाला है, उसको अमर मानते हैं और जो नष्ट नहीं होने वाला उसको नष्ट होने वाला मानते हैं। दोनों का उदाहरण देते हैं— पीछे भी आपको बताया था। जो अविद्या का स्वरूप है उस प्रसङ्ग में मैंने आपको बताया था कि शरीर कभी-भी नष्ट न होकर स्थिर हो जाये, यह सम्भव नहीं है।

शरीर निश्चित रूप से नष्ट होने वाला है। ऐसा हमको लगता है कि सभी लोग मर जायेंगे कभी न कभी। लेकिन कोई भी व्यक्ति कभी-भी मर सकता है, ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता है कि मेरी मृत्यु अभी हो सकती है। अथवा आज मेरी मृत्यु हो सकती है। ऐसा किसी को भी नहीं लगता है, कभी नहीं लगता है। हमें ऐसा तो लगता है कि मैं कुछ दिन तक तो जीऊँगा। हर व्यक्ति को ऐसा ही लगता है अभी मरने वाला नहीं हूँ। कुछ दिन तक तो जीवित रहूँगा। जैसे कोई चीज़ है, कागज़ है, हम फाड़ते हैं तो फट जाता है। उसको हम देखते हैं, तो हमको लगता है कि यह नष्ट होने वाला है। लेकिन शरीर के बारे में कभी ऐसा नहीं लगता है कि मेरा शरीर कभी-भी नष्ट हो सकता है। काँच की खिड़की हो, काँच का दरवाजा हो और कोई पत्थर लेकर खड़ा हो तो हमें बिल्कुल अनित्यता दिखाई देती है। शरीर के बारे में कभी ऐसा लगता है ? कभी नहीं लगता है। हमको लगता है कि अभी तो बना रहेगा। यही स्थिति आगे भी ऐसे ही रहेगी। हर समय हमको ऐसा ही लगता रहेगा कि अभी तो मरने वाला नहीं हूँ। ऐसी स्थिति रहती है। पीछे भी बताया था।

अहानि—अहानि भूतानि, गच्छन्ति हि यमालयम् ।

शेषाः स्थावरमिच्छन्ति, किमाश्चर्यम्—अतः परम् ॥

अब दूसरी बात — शरीर जो नष्ट होने वाला है, यह हमको प्रतीत नहीं होता है कि यह नष्ट हो जायेगा। लोहे को हम तलवार से काट नहीं सकते हैं, लेकिन शरीर को काट देते हैं। शरीर लोहा जैसा नहीं है। लोहा सहज छिद्य नहीं होता है लेकिन शरीर तो ऐसा नहीं है। हमको लगता नहीं है कि शरीर छिद्य है, अर्थात् नष्ट नहीं होगा, ऐसी ही भावना बनी रहती है। अभी मरने वाला नहीं हूँ। ऐसा लगता है सबको योगियों को छोड़कर। इसलिए मृत्यु के समय में दुःख होता है। हमने सोचा

नहीं था और अचानक स्थिति बन जाये तो क्या होगा ? बहुत दुःख होता है । कल्पना कीजिए किसी के पिता जी बीमार हैं, अस्पताल में एडमिट हैं और डॉक्टर ने कह दिया बहुत वृद्ध हो गये हैं, कभी-भी ये मर सकते हैं । वह व्यक्ति मर जाये तो घर वालों को इतना दुःख नहीं होगा, थोड़ा तो दुःख होगा । लेकिन जवान बेटा मर जाए तो कितना दुःख होता है । कारण क्या है ? यहाँ व्यक्ति मान रहा था कि जवान् व्यक्ति मरने वाला नहीं है और वहाँ मान रखा था कि यह मरने वाला है । जब नहीं माना था और मृत्यु हो गई तो बहुत कष्ट होता है, बहुत दुःख होता है और मान रखा था यह तो मरने वाला है, वहाँ मृत्यु हो तो इतना दुःख नहीं होता । हर जगह ऐसी स्थिति रहती है हमारे अपने लिए भी और दूसरों के बारे में, हमारी ऐसी कल्पना होती है कि यह कभी नष्ट होनेवाला नहीं है और नष्ट हो जाए तो बड़ा कष्ट होता है । यह तो शरीर के बारे में हमारा विचार है ।

अब इसके विपरीत देखो । आत्मा के बारे में कल्पना करो कोई घटना घट जाए (साँप आ जाये) अथवा कोई अचानक स्थिति घट जाये तो ऐसा लगता है कि मैं समाप्त हो जाऊँगा, मैं मर जाऊँगा । यह जो “मैं मर जाऊँगा” शरीर नष्ट हो जायेगा ऐसा अनुभव नहीं होता है, क्या अनुभव होता है ? मैं स्वयं ही समाप्त हो जाऊँगा, ऐसा अनुभव होता है । आत्मा कभी नष्ट होने वाला नहीं है, उसको तो हम सोचते हैं कि यह समाप्त होनेवाला है । शरीर रहने वाला नहीं है, इसको सोचते हैं कि यह रहने वाला है । इन दोनों स्थितियों में हम बिल्कुल विपरीत अनुभव करते हैं । मृत्यु के समय व्यक्ति को जो दुःख होता है “शरीर छूटने वाला है, दुबारा मैं ऐसे शरीर प्राप्त कर सकता हूँ” ऐसे अनुभव नहीं होता है । इसलिए वह बहुत दुःखी होता है, क्या करूँ ? शरीर छूटने वाला है तो मैं ही छूटने वाला हूँ । ऐसा व्यक्ति अनुभव करता है । आत्मा तो मरने वाला नहीं है, उसको हम अनित्य मान लेते हैं और शरीर अनित्य है उसको नित्य मान लेते हैं । मन्त्र में कहते हैं — ‘वायुरनिलममृतम्’ जीवात्मा अमर

है, कभी मरने वाला नहीं है और 'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर का स्वरूप बता दिया — 'भस्मान्तम्' अन्त में भस्म होने वाला है। शरीर को अलग-अलग विधि से लोग अन्तिम संस्कार करते हैं। कोई मिट्टी में गाढ़ देता है और पौराणिक मान्यता में कोई संन्यासी होता है तो उसकी भी लोग अन्त्येष्टि संस्कार नहीं करते हैं। आर्य समाज में, वैदिक धर्म में तो संन्यासियों का भी अन्त्येष्टि संस्कार करते हैं। लेकिन पौराणिक मान्यता में संन्यासी का अन्त्येष्टि संस्कार नहीं करते हैं। क्यों नहीं करते ? उसमें वे हेतु देते हैं — अग्नि के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। संन्यास होने के बाद अग्नि स्पर्श की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् उसको अग्नि होत्र करने की आवश्यकता नहीं है। इससे वे लोग भ्रान्ति में पड़ गये कि संन्यासी होने के बाद अग्नि का स्पर्श नहीं हो सकता। वास्तव में अग्निहोत्र करने की आवश्यकता नहीं है लेकिन वे सोचते हैं कि अन्त्येष्टि संस्कार भी अग्नि का संस्पर्श है। (वे समाधि देते हैं) उसको मिट्टी में गाढ़ते हैं, उसको समाधि कहते हैं। मानते हैं कि मृत शरीर की स्थिति जो है समाधि की अवस्था में है और समाधि अवस्था में ही उसको रखते हैं। ऐसा वे मानते हैं। एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय है, उनके गुरु का देहान्त हो गया तो उनको ध्यानस्थ मुद्रा में बैठाया गया और ऐसे ही ध्यानस्थ मुद्रा में उन्हें मिट्टी में गाढ़ दिया।

वेद तो कहता है 'भस्मान्तं शरीरम्'। कई लोग जल समाधि लेते हैं। कई संन्यासी ऐसा कहते हैं कि मरने के बाद मेरा शरीर जल में फेंक देना। कई लोग मिट्टी में गाढ़ देते हैं। कुछ लोग ऐसा करते हैं कि मरने के बाद बहुत ऊँची छत के ऊपर रख देते हैं। वहाँ चील आदि खा जाते हैं। वे लोग कहते हैं मरने के बाद भी हमारा शरीर परोपकार अर्थात् अन्य प्राणियों के लिए उपयोगी हो जाए। ऊँची छत एक विशेष स्थान होता है, कोई भी मर जाए, शरीर को वहाँ डाल देते हैं। अनेक मांसाहारी पक्षी खा जाते हैं। हड्डियों को भी उपयोग में ले लेते हैं परन्तु

वेद मन्त्र कहता है **भस्मान्तं शरीरम्** शरीर को भस्म करना सबसे उचित विधि है। महर्षि दयानन्द जी ने संस्कार विधि में बहुत विस्तार से लिखा है, अनेक विचार प्रश्नोत्तर के माध्यम से प्रस्तुत करके लिखा है कि शरीर को जलाना ही ठीक है। यह मन्त्र स्वल्प शब्द भेद से यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में है। उसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है शरीर अन्त में भस्म होने वाला है। दूसरों के शरीर को हम देखते हैं, किसी के अन्त्येष्टि संस्कार में हम जाते हैं, जलते हुए शरीर को देखते हैं तो उस समय तो लगता है कि शरीर भस्म हो जाएगा। ऐसे लगने को श्मशान वैराग्य कहते हैं। श्मशान जाने पर सबको थोड़ा बहुत वैराग्य होता है, सब लोग वहाँ दार्शनिक बन जाते हैं, कहते हैं — आज यह चला गया कल हमारा नम्बर आएगा। जब श्मशान से वापस घर आते हैं तब फिर तेरा मेरा लड़ाई झगड़ा चल पड़ता है। नीतिकार ने इस बात को चित्रण किया है।

धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत् ।

सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥

चाणक्यनीति १४-५

जहाँ धर्म का व्याख्यान हो, धर्म का जहाँ प्रवचन होता हो, आप योग दर्शन पढ़ते हैं, उपनिषद पढ़ते हैं, वेद मन्त्रों का स्वाध्याय करते हैं, उस समय हमारी बुद्धि अच्छी बनती है, विवेक वैराग्य युक्त बुद्धि उत्पन्न होती है। दूसरी स्थिति श्मशान में जब जाते हैं उस समय विवेक होता है, यह शरीर नाशवान् है, मैं भी मरूँगा, वैराग्य की भावना उद्बुध होती है। श्मशान में किसी को विषय भोग के प्रति आकर्षण/राग नहीं होता है। तीसरी स्थिति जब व्यक्ति रोगी हो जाता है हलवा भी कड़वा लगता है। बुखार हो जाए मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है, कुछ भी मुँह में रखो कड़वा कड़वा लगता है। हलवा खाने की, घूमने, फिरने की इच्छा भी

नहीं होती है। रोगी को संसार बड़ा बेकार लगता है। रोग के समय भोग की प्रवृत्ति नहीं होती है, वैराग्य की भावना उभरती है। धर्म प्रवचन के समय जो बुद्धि उत्पन्न होती है, श्मशान में जो बुद्धि उत्पन्न होती है और रोगियों की जो बुद्धि उत्पन्न होती है; ऐसी बुद्धि सर्वदा यदि बनी रहे तो कौन बन्धन से न छूट जाए अर्थात् ऐसी बुद्धि सदा रहे तो व्यक्ति बन्धन से छूट जाएगा। वह बुद्धि, विवेक, वैराग्य की स्थिति बनी रहे तो बन्धन समाप्त हो जाता है। शरीर का स्वरूप भस्मान्त है और आत्मा का स्वरूप अमृत है। दोनों का पृथक्-पृथक् विवेक ज्ञान होना आवश्यक है। “शरीर छूटेगा और आत्मा मृत्यु के बाद भी रहेगी” इस अनुभूति को हमें दृढ़ करना है, पीछे की अनुभूति (ज्ञान) को बदलना है, शरीर तो कभी भी नष्ट हो सकता है और आत्मा कभी नष्ट होने वाला नहीं है।

अगले वाक्य में बताया ओ३म् क्रतो स्मर। क्रतु शब्द का संबोधन में क्रतो होता है। क्रतु का अर्थ होता है कर्म करने वाला। कर्म को करने वाला कौन है? जीवात्मा। जीवात्मा का विशेषण है क्रतु। क्यों क्रतु कहा है? बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक, सुबह से लेकर रात्रि तक हर समय हम कोई न कोई कर्म करते रहते हैं। कर्म करते रहने से क्रतु नाम दिया गया है। परमात्मा इस मन्त्र में निर्देश देना चाहते हैं कि केवल कर्म करने में ही लिप्त नहीं रहना है, कर्म करते-करते ही जीवन को समाप्त नहीं कर देना है, तो क्या करना है? “ओ३म् क्रतो स्मर” हे क्रतो, हे कर्मशील जीव तुम मेरे ओ३म् नाम का स्मरण करो। ईश्वर के नाम के ऊपर भी बहुत चर्चा होती है। कोई कहता है ईश्वर का यह नाम है, कोई कहता है यह नहीं, यह नाम है। वेद में स्वयं ईश्वर कहता है— मेरा नाम ओ३म् है, तुम ओ३म् नाम का स्मरण करो। परमात्मा का मुख्य निज नाम ओ३म् है। निजनाम, मुख्यनाम क्या होता है? इसको आप

ऐसे समझ सकते हैं। मान लीजिए किसी व्यक्ति का नाम देवदत्त है। माता-पिता उसको बेटा कहकर बुलाते हैं। देवदत्त को माता-पिता देवदत्त न कहकर बेटा कहते हैं, पुत्र कहते हैं। देवदत्त के बच्चे उसको देवदत्त कहकर नहीं बुलाएँगे, पिताजी कहकर बुलाएँगे। सन्तानों को माता-पिता का नाम लेकर बुलाना अशिष्ट है, अनुचित है। बच्चे कहेंगे पिताजी और देवदत्त किसी संस्था में प्रधान है। संस्था से जुड़े हुए लोग उसे देवदत्त न कहकर कहते हैं “प्रधान जी” प्रधान जी ने ऐसा कहा, प्रधान जी ने ऐसा करवाया इत्यादि। मान लीजिए वह अध्यापक भी है। अब देखिए उस व्यक्ति के कितने नाम हो गए हैं। देवदत्त एक नाम हो गया है, पिता एक नाम हो गया है, प्रधान एक नाम हो गया है, अध्यापक एक नाम हो गया है, अलग-अलग नाम हो गए। व्यक्ति एक है नाम अनेक हैं। ये जो सारे नाम हैं गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर हैं। पुत्र को पुत्र इसलिए कहते हैं कि **पुंनाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः**। पुम् कहते हैं नरक को = दुःख को। दुःख से जो बचाता है, सेवा करता है, रक्षा करता है, उसे पुत्र कहते हैं। पालन करने से पिता कहते हैं। प्रधान को प्रधान क्यों कहते हैं? प्रकर्ष रूप से धारण करता है, सब से अधिक मुख्य उत्तरदायित्व, कर्तव्य का निर्वहन धारण करने से संस्था का प्रधान कहलाता है। जो अध्यापन करता है, पढ़ाता है, इसलिए उसे अध्यापक कहते हैं। ये सारे नाम गुण कर्म स्वभाव के आधार पर होते हैं। परन्तु ये नाम परस्पर बदल नहीं सकते हैं। बच्चे पिताजी कहते हैं तो संस्था वाले पिताजी नहीं कहेंगे, प्रधान जी ही कहेंगे। संस्था में अध्यापक नहीं कहेंगे। ये सब नाम एक ही व्यक्ति के होने पर भी निश्चित है एक नाम एक वर्ग के लिए निश्चित है, बदल नहीं सकते हैं। परन्तु उसका जो मुख्य नाम देवदत्त है, वह नाम सभी के साथ सम्बन्ध रखता है। देवदत्त कहने से माता-पिता समझ जाएँगे मेरे पुत्र को कह रहे हैं, बच्चे समझ जाएँगे हमारे पिताजी को कह रहे हैं। संस्था वाले प्रधान जी को और छात्र अध्यापक

जी को समझ जाएँगे। यह मुख्य नाम है, निजनाम है जो सभी नामों के साथ जुड़ जाता है। ऐसे ईश्वर का जो मुख्य नाम है, वह है ओ३म् और यह नाम सभी नाम के साथ जुड़ जाता है। इसलिए हम सब के साथ ओ३म् जोड़ते हैं। ओ३म् अग्नये स्वाहा, ओ३म् सोमाय स्वाहा, ओ३म् प्रजापतये स्वाहा, ओ३म् इन्द्राय स्वाहा। सभी के साथ ओ३म् जुड़ जाएगा। ओ३म् ईश्वर का मुख्य और निज नाम है। इसलिए सब के साथ जुड़ जाएगा और जो गुण कर्म के आधार पर किसी का नाम होता है वह सब के साथ नहीं जुड़ेगा।

परमात्मा का मुख्य नाम ओ३म् बताकर मन्त्र कहता है, केवल कर्म करते हुए जीवन को समाप्त नहीं करना है। प्रत्येक दिन ओ३म् नाम का स्मरण करना है, जप करना है, अर्थ भावना के साथ। महर्षि दयानन्द जी ने विधान किया है — मुमुक्षु को प्रातः—सायं एक-एक घण्टा ध्यान करना है और जो मुमुक्षु नहीं है वह भी २४ घण्टे में एक घड़ी (= २४ मिनट) भी योगाभ्यास करें तो भी दुःखों से छूटकर मुक्ति की ओर बढ़ता है और जो इतना भी नहीं करता है वह परमेश्वर के उपकारों को भुलाकर कृतघ्न और महामूर्ख होता है। सभी मनुष्यों के लिए २४ घण्टे में कम से कम २४ मिनट (१ दिन में १ घड़ी) समय लगाना चाहिए और सांसारिक सुख को गौण करके मोक्ष की इच्छा रखने वाले जो मुमुक्षु हैं, उन्हें दिन में दो घण्टे ध्यान करना चाहिए। परमात्मा का नाम स्मरण करने का भी विधान है।

जो कहते हैं 'केवल कर्म ही धर्म है' — WORK IS WORSHIP अंग्रेजी में यह स्लोगन बहुत चलता है। अलग से धार्मिक कृत्यों को करने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल अपने कर्तव्य कर्मों को करो, वही धर्म है। अपने कर्तव्यों का पालन करना ही ईश्वर की पूजा है। ठीक है यह कर्तव्य पालन करना, ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल होने से ईश्वर भक्ति का एक भाग है। दूसरा भाग हमारा रहेगा, प्रतिदिन ईश्वर का स्मरण करें, ओ३म् क्रतो स्मर।

अगला शब्द है “कृतं स्मर” आत्मनिरीक्षण के लिए यह मन्त्र बताया जाता है कि हम अपने किए हुए कर्मों का स्मरण करें। मैंने क्या कर्म किया ? जो व्यक्ति अपने इतिहास को देखता है, उससे शिक्षा लेता है, वह जीवन में आगे बढ़ता है। भविष्य में गलतियों से कौन बच सकता है ? जो पीछे की गलतियों को देखता है, उनका प्रायश्चित्त करता है, गलतियों के कारणों को ढूँढता है, हटाने के लिए प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति आगे गलतियों से बचता है। मन्त्र आत्मनिरीक्षण के लिए निर्देश करता है कि “कृतं स्मर” क्या-क्या कर्म हमने किया उनको स्मरण करो। केवल कर्म करते जाओ, करते जाओ यह ठीक नहीं है, सफल नहीं हो सकते हैं। पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जीवन में सफलता या पूर्णता प्राप्त करने के लिए किए हुए कर्मों को देखना आवश्यक है।

प्रत्येक दिन आत्मनिरीक्षण करना यह एक बात है और जीवन में जिस भी अवस्था में हैं, पीछे के जीवन को भी देखना आवश्यक है। हमारे जीवन में दिशाएँ कैसे-कैसे बदलती रही ? कैसे जीवन में अलग अलग मोड़ (TURNING POINTS) आएँ हैं, उनको भी देखते रहना चाहिए। आज व्यक्ति का जीवन बहुत बहिर्मुख है (TOO MUCH OUTWARDS) दूसरे क्या करते हैं, उसको देखने के लिए अधिक उत्सुकता रहती है। यह ऐसा करता है, वह वैसा करता है, दिनभर यही चलता है। मैं क्या करता हूँ ? यह भी तो देखो ! दूसरा क्या करता है ? यह देखना जितना आवश्यक है, उससे कई गुना ज्यादा आवश्यक है यह देखना कि “मैं क्या करता हूँ ?” मन्त्र कहता है “कृतं स्मर” हे कर्म करने वालो जीव तुम अपने कर्मों को देखो, जीवन भर के कर्मों को देखो और प्रतिदिन के कर्मों को देखो। मैंने अपने कर्तव्य कर्मों का ठीक-ठीक अनुष्ठान पालन किया या नहीं ? इसलिए विश्वानि देव मन्त्र में “विश्वानि दुरितानि परासुव” यहाँ विश्वानि दुरितानि बहुवचन में है, सारे दुर्गुण दोष पाप दूर होने चाहिएँ और “यद् भद्रम्” यहाँ भद्रं कल्याण एक वचन में रखा है। अच्छा कर्म हम कितना करते हैं बड़ी बात नहीं है बुरा कर्म एक भी नहीं होना

चाहिए। हम आचरण में अच्छा कितना करते हैं, इसका अधिक महत्त्व नहीं है किन्तु एक भी गलती करेंगे तो दूसरे ऊँगली उठाएँगे, देखो यह व्यक्ति ऐसी गलती करता है। इसलिए मन्त्र कहता है, हमारे कर्म में दोष न आए उसके लिए कर्म को देखते रहें। जो कर्मों को नहीं देखता बस करता जाता है, वह पापी बन सकता है, हम पापी न बनें।

अगला मन्त्र बहुत प्रसिद्ध मन्त्र है :—

**अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥**

॥ १८ ॥

इस मन्त्र में पहला शब्द “अग्ने” है। अग्ने में कौन सी विभक्ति है ? एकार देख कर सप्तमी नहीं कहना है, अग्नि शब्द का सम्बोधन में ‘अग्ने’ बनता है। यहाँ अग्ने शब्द भौतिक अग्नि के लिए नहीं अपितु ईश्वर के लिए है। परमात्मा को अग्नि क्यों कहते हैं ? अग्नि शब्द में धातु क्या है ? अग्नि गतौ धातु से अग्नि शब्द बनता है। ईश्वर गति कभी करता नहीं है फिर कैसे ईश्वर को अग्नि कहा गया ? ईश्वर सदा क्रियाशील है, सक्रिय है, सृष्टि का पालन आदि क्रिया सतत चल रही हैं। ईश्वर कभी विश्राम नहीं करता है, सदा क्रियाशील रहता है, बिना दूसरे की सहायता से। कभी नहीं थकता। अकेला करता है फिर भी नहीं थकता। क्यों ? ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जैसे मुझे एक कागज़ को यहाँ से उठाकर वहाँ रखने में कोई भार नहीं लगता है, वैसे ही ईश्वर में इतनी शक्ति है कि सारे संसार को बहुत सहज स्वभाव में बनाता है, पालन करता है, अन्त में प्रलय करता है, कोई भार नहीं लगता है। इसी को सन्ध्या मन्त्र में बताया ‘विश्वस्य मिषतो वशी’ हम काम तो करते हैं किन्तु हमें भार लगता है, कष्ट होता है। ईश्वर को कभी भार नहीं लगता है, अनन्त शक्ति है। हम तो बिना प्राकृतिक साधन कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। हम हाथ से मिट्टी खोदेंगे कितना खोद सकेंगे ? फावड़ा

या JCB MACHINE से खोदेंगे तो साधनों से बहुत अधिक सम्भव हो जाता है। जैसे फावड़ा, JCB Machine आदि साधन हैं वैसे ही यह शरीर, हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि यह सब जीवात्मा के साधन हैं। इनकी शक्ति सीमित है इसलिए हम थक जाते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने से सदा संचालन आदि क्रियाओं को करने से ईश्वर को 'अग्ने' शब्द से सम्बोधन किया गया।

अगला शब्द है नय। हे अग्ने परमेश्वर तुम 'नय' = ले चलो हमें। यहाँ अग्ने शब्द से सम्बोधन करके प्रार्थना करते हैं — हमें ले चलो। कौन से मार्ग से हमें ले चलो? 'सुपथा' शोभनः पन्थाः — उत्तम मार्ग में ले चलें। जन्म हो गया है, जीवन मिल गया है, जीवन की यात्रा तो चलेगी। भेद कहाँ है? कोई सुपथ में तो कोई कुपथ में यात्रा करता है, यात्रा अनिवार्य है, पथ/मार्ग का चयन ऐच्छिक है। हे अग्ने परमात्मा आप हमें सुपथ से ले चलो। "राये" रै की चतुर्थी विभक्ति है, ऐश्वर्य के लिए, धन सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए। महर्षि दयानन्द जी ने अर्थ किया आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए, ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति के लिए ले चलो। किसको ले चलना है? मन्त्र में अगला शब्द है अस्मान् = हम लोगों को ले चलिए। जो व्यक्ति प्रार्थना कर रहा है, उसके साथ और भी अनेक भक्त हैं। जैसे हम बहुत सारे मिलकर प्रार्थना करते हैं, हे अग्ने ! हे ईश्वर ! आप हम लोगों को विज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अच्छे मार्ग पर ले चलिए।

'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्' इसमें विश्व शब्द का अर्थ है सर्व। विश्वानि शब्द वयुनानि के साथ जुड़ेगा विश्वानि वयुनानि = संपूर्ण प्रज्ञान को प्राप्त कराईए। आगे दो शब्द हैं देव और विद्वान्। ईश्वर को देव क्यों कहते हैं? क्योंकि वह देता ही रहता है। जो देता है वह देव है, जो लेता है वह मानव है और जो छीनता है वह असुर है। ईश्वर देता है इसलिए देव है, सब से अधिक देने वाला ईश्वर ही है। महर्षि ने कहा देवों का भी देव महादेव है। जितने भी देव हैं, ईश्वर से ही दिव्य गुण प्राप्त करके देव हुए हैं। दूसरा शब्द है विद्वान्। विद जाने धातु

से शतृ प्रत्यय, विदेः शतुर्वसु सूत्र लगकर विद्वान् शब्द बनता है। अर्थ है जानता हुआ, जो ज्ञानवान् रहता है, वह विद्वान् है। योगदर्शन में विद्वान् की परिभाषा की है। ‘अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्’ योगी को वहाँ विद्वान् कहा गया है और वह आँख के तुल्य अत्यन्त जागरुक होता है। आँख की विशेषता छोटा, सूक्ष्म, धूल, कण या तन्तु आदि संस्पर्श हो जाए तो आँख में अधिक संवेदना होती है, शरीर के अन्य अंग में पता ही नहीं चलता है, कोई वेदना नहीं होती है। दूसरी बात आँख में सतर्कता, जागरुकता अधिक है। कुछ भी आँख की ओर आता है, आँख तुरन्त बन्द हो जाती है। योगी ऐसे ही आँख के समान सदा ज्ञान विवेक युक्त रहता है, विद्वान् होता है। जो शास्त्रों को पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, उन्हें भी विद्वान् कह देते हैं भले योगी न हो, आदर्श आचरण न हो। विवेकी, योगी विद्वानों के तुल्य आध्यात्मिक विषयों का वक्ता, शब्दज्ञान होने से शाब्दिक विद्वान् को भी विद्वान् माना जाता है। “अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्” यह योग दर्शन व्यास भाष्य २-१५ में बताया गया है। वहीं २-९ मूल सूत्र में ही बताया गया है — ‘स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः’ यहाँ जो विदुषः विद्वान् का कथन किया गया है वह शाब्दिक विद्वान् है, तभी तो क्लेशित होता है, मृत्यु से डरता है। अथर्ववेद में मन्त्र आता है ‘तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः’ योगी विद्वान् मृत्यु से नहीं डरता है और शाब्दिक विद्वान् डरता है। दोनों प्रकार के विद्वानों का वर्णन शास्त्र में मिलता है। उपनिषद् में ईश्वर के लिए विद्वान् शब्द आया है। ईश्वर यथार्थ में पूर्ण विद्वान् है, हमेशा ज्ञानवान् रहता है। कभी भी अज्ञान से युक्त नहीं होता है, सदा जानता ही रहता है।

‘युयोधि-अस्मत् जुहुराणम्-एनस्’ यहाँ युयोधि शब्द भी लोट् लकार, प्रार्थना अर्थ में है। हे ईश्वर आप दूर कर दीजिए। प्रश्न उठता है किस से दूर करें? अगला शब्द है अस्मत् हम लोगों से दूर कर दीजिए। क्या दूर कर दीजिए? जुहुराणम् अर्थात् कुटिलता। ईश्वर से सम्बन्ध बनाना चाहते हैं तो सब से पहले कुटिलता को छोड़ना आवश्यक है।

कुटिल व्यक्ति ईश्वर से सम्बन्ध नहीं बना सकता। कुटिलता का अर्थ क्या समझते हैं ? टेढ़ी-मेढ़ी चाल अर्थात् अन्दर बाहर अलग होना, मन में अलग विचार रखते हुए उससे भिन्न वाणी और उससे भिन्न व्यवहार करना कुटिलता कहलाता है। कुटिल व्यक्ति परमात्मा की अनुकम्पा प्राप्त नहीं कर सकता है। न परमात्मा के प्रति प्रीति बढ़ेगी। हम देव विद्वान् परमात्मा से प्रार्थना करते हैं — हम से कुटिलता को दूर कर दीजिए। प्रार्थना का यह नियम है कि सब से पहले हम उसके लिए पूर्ण पुरुषार्थ करें। जहाँ-जहाँ हमारे अन्दर कुटिलता है, उसको दूर करने के लिए पहले स्वयं प्रयत्न करें। अन्दर बाहर एक रूप होने का प्रयास करें। अगला शब्द है एनस् = पाप। कुटिलता के साथ-साथ पाप को दूर कर दीजिए। पाप अनेक प्रकार हैं। जहाँ-जहाँ यमों का भङ्ग करते हैं वह सब पाप है। निरुक्त शास्त्र में वेद मन्त्र की व्याख्या करते हुए सात महापाप गिनाएँ हैं। सातों महापाप दूर करने हेतु पुरुषार्थ और प्रार्थना करते हैं।

मन्त्र का अन्तिम भाग 'भूयिष्ठां ते नमः उक्तिं विधेम'। हे ईश्वर ! आपसे हमने प्रार्थना की और कृतज्ञता स्वरूप हम तो आप के लिए नमः-नमस्कार करते हैं। भूयिष्ठां बहुत अधिक आपकी प्रशंसनीय उक्ति को सेवन करें, आपकी बहुत स्तुति हम करें। जैसे ईश्वर स्तुतिप्रार्थनोपासना मन्त्र में आता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' अर्थात् अन्तःकरण की पवित्रता से हम आपको हवि प्रदान करते हैं। वैसे ही ते = तेरी उक्तिं प्रशंसनीय वाणी को भूयिष्ठां विधेम बार-बार हम परमात्मा का स्मरण करें, विशेष भक्ति करें।

बहुत सारी बातें इस मन्त्र में बता दी हैं। हे अग्ने ! ज्ञानवान् परमेश्वर ! प्रभो ! आप हमको अच्छे मार्ग पर ले चलिए, संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान, ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए। ये दो प्राप्त करने योग्य हैं वयुनानि, राये = विज्ञान और ऐश्वर्य। छोड़ने योग्य भी दो बातें मन्त्र में बताई गई हैं 'जुहुराणम्, एनस्' कुटिलता और पाप छोड़ने योग्य हैं। चाहे प्राप्तव्य हो या त्यक्तव्य हो दोनों प्रार्थनाएँ पूर्ण कैसे होगी ? उसके लिए बहुत

मात्रा में प्रभु की प्रशंसा स्तुति करें। ईश्वर की बार-बार स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने से क्या होगा? स्तुति करने से प्रीति बढ़ेगी। स्तुति का सीधा फल है प्रीति, जितनी स्तुति करते हैं उतनी प्रीति बढ़ती है। दूरदर्शन (T.V.) में विज्ञापन देखते हैं। विज्ञापन देखने से क्या होता है? उस वस्तु (PRODUCT) के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है, उसके गुण सुन-सुन कर पाने की, खरीदने की इच्छा होती है। वैसे ही ईश्वर की स्तुति करेंगे, ईश्वर के गुणों के ऊपर विचार करेंगे, तो ईश्वर के प्रति प्रीति उत्पन्न होगी। प्रार्थना करने से क्या होगा? पुरुषार्थ करने की प्रवृत्ति होगी। जब भी हम किसी को कहते हैं मुझे यह चाहिए तो निर्देश आता है :- आप ऐसा करो। करने से मिलेगा, जो व्यक्ति कुछ नहीं करता है, केवल प्रार्थना करता है, अधिक दिन नहीं चलेगा। संसार में तो कोई दया के वशीभूत होकर दे भी देगा किन्तु ईश्वर कभी बिना पुरुषार्थ किए केवल प्रार्थना पर नहीं देता है। पुरुषार्थ करके प्रार्थना करने से, ईश्वर की ओर से सहायता मिलती है, व्यक्ति निरभिमानी बनता है और उपासना करने से ईश्वर की उपासना से दो लाभ होते हैं। एक तो ईश्वर का आनन्द, आत्मशक्ति, आत्मविश्वास मिलता है। दूसरा हम बुराईयों से बचते हैं। ईश्वर की उपासना नहीं करेंगे तो दूसरे की उपासना करेंगे। जिसकी उपासना करेंगे उसके गुण आएँगे। ईश्वर की उपासना करने से ज्ञान, बल, आनन्द, आत्मशक्ति, आत्मविश्वास, उत्साह, निर्भयता प्राप्त होती है, साथ में जो बुराईयाँ हैं उनसे हम बच जाते हैं, दुर्गुण दूर होते हैं, नए दुर्गुण प्रवेश नहीं करते हैं।

इस उपनिषद् में अनेक महत्वपूर्ण बातें बताई गई। यह ईशोपनिषद् हमारे जीवन के लिए बहुत उपयोगी है और ईश्वर के बारे में जानने हेतु, दूसरों को बताने, समझाने के लिए उपदेश करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

✱ ✱ ✱



- जो व्यक्ति ऊंचा लक्ष्य बना लेता है वह इधर-उधर के कार्य में नहीं फंसता उलझनों में नहीं फंसता है। ऊंचा लक्ष्य वाला व्यक्ति किसी से झगड़ता नहीं है। इन कामों के लिए उसके पास समय ही नहीं होता।
- व्यक्ति एषणाओं के द्वारा दबा हुआ रहता है। जो एषणाओं के द्वारा दब जाता है वह योगी नहीं बन सकता जो एषणाओं को दबाता है वही

योगी बन सकता है। तीन एषणाओं का दबाव सामान्य नहीं है। अब चाहे तो आप बच सकते हैं। आगे लोग कहेंगे यह बहुत अच्छा बोलता है अच्छा विद्वान है अच्छा लेखक है अच्छा वक्ता है परोपकारी महान है। तब फिर एषणाओं से बच नहीं सकते।

- अपने आप को वैदिक योगी बना देना संसार का सबसे बड़ा उपकार है।



- निष्काम भाव से परोपकार करने वाले को धन का अभाव नहीं होता है।
- किसी भी परिस्थिति में चाहे प्रलय हो जाए दुःखी नहीं होना सदा प्रसन्न रहना आध्यात्मिक व्यक्ति का लक्षण है।
- आज का दिन मिला है, जो करना है आज ही कर डालो। ऐसे सोचेंगे तभी आप पुरुषार्थी बनेंगे सफल हो पाएँगे।
- आज मर जाऊँ तो मुझे कोई पश्चाताप नहीं है संतोष है जीवन में मैंने कुछ किया है।

-: सौजन्य :-



अपने सास गंगा बेन प्राग जी चौहान एवं
ससुर प्राग जी भानजी चौहान

की पुण्य स्मृति में

श्रीमती त्रिवेणी पढ़ियार जी

खरियार रोड़, ओड़िशा के सहयोग से प्रकाशित

